इकाई : १

१

वक्रोक्ति सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा :

१.० प्रस्तावना
१.१ वक्रोक्ति का अर्थ
१.२ वक्रोक्ति सिद्धांत की अवधारणा
१.३ आचार्य कुंतक का वक्रोक्ति सिद्धांत
१.४ वक्रोक्ति के प्रकार
१.५ प्रबन्ध वक्रता
१.६ वक्रोक्ति सिद्धांत का मूल्यांकन
१.७ वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद
१.८ सारांश
१.९ दीर्घोत्तरी प्रश्न
१.१० लघुत्तरीय प्रश्न
१.११ उपयोगी पुस्तकें

१.० प्रस्तावना

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रणेता आचार्य कुंतक है। काव्यशास्त्र में सौंदर्य तत्वों की विशिष्टता स्थापित करने में कुंतक का योगदान अग्रणीय है। आनंद वर्धन द्वारा ध्वनि सिद्धांत की स्थापना के पश्चात रीति और अलंकार वाद को गौण सिद्ध कर दिया तब कुंतक ने काव्य के समस्त सौंदर्य तत्वों का गूढ़ अध्ययन कर वक्रोक्ति सिद्धांत का प्रतिपादन किया । कुंतक से पूर्व भी काव्य शास्त्रियों द्वारा वक्रोक्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है परंतु कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धांत और अन्य आचार्यों द्वारा प्रयुक्त वक्रोक्ति में अर्थ और उद्दिष्ट गत भिन्नता है।

१.१ वक्रोक्ति का अर्थ

वक्रोक्ति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। वक्र और उक्ति। वक्र शब्द का अर्थ होता है कुटिल, विलक्षण या टेढ़ा, उक्ति शब्द का अर्थ है- कथन, वक्र और उक्ति शब्द संधि से निर्मित शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है- ऐसा कथन जो सामान्य से अलग हो।

munotes.in

१.२ वक्रोक्ति सिद्धांत की अवधारणा

काव्य में वक्रोक्ति शब्द प्रयोग का आरंभ कुंतक से पूर्व भी हुआ है, विशेषत: अलंकार वादी आचार्यों ने वक्रोक्ति की व्याख्या अलग-अलग प्रकार से प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है:-

भामह ने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है और वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए वक्रोक्ति के अंतस्थ समस्त सौंदर्य को समाहित किया है। वक्रोक्ति को भामह इस प्रकार परिभाषित करते हैं-

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नो अस्या कविना कार्य: कोलंकारोनया बिना ।।

दण्डी ने भी भामह के समान ही वक्रोक्ति को महत्वपूर्ण माना। इन्होंने वक्रोक्ति के साथ अतिशयोक्ति को भी सर्व अलंकारों के स्थापत्य रूप में अपनाया और वक्र को कथन से नीचे दर्जे का माना। उनके ग्रंथ काव्यादर्श में इस प्रकार वक्रोक्ति को उल्लेखित किया है:-

श्लेष: सर्वासु पुष्णाति प्रायोवक्रोक्ति षुश्रियम।

द्विधा भिन्न स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिरचेति वाङमयम ॥

इस प्रकार दण्डी ने स्वाभोक्ति से वक्रोक्ति को भिन्न अर्थ में वर्णित किया है।

आनंद वर्धन ने वक्रोक्ति को स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में न स्थापित कर मात्र अलंकार माना है और भामह के मत का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति और अतिश्योक्ति को पर्यायवाची माना है।

अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति को सामान्य रूप में स्वीकार किया है। इनके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता का अर्थ लोकोत्तर से है अर्थात अतिश्योक्ति से।

वामन ने सादृश्य पर आश्रित लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है आश्रित लक्षणा से तात्पर्य है गौणी लक्षणा। लेकिन परवर्ती आचार्यो ने इनके मत को अस्वीकार कर दिया।

आचार्य रूद्रट ने वक्रोक्ति को एक अलंकार के रूप में देखा और इसके दो प्रकार का वर्णन किया है- प्रथम काकु वक्रोक्ति और द्वितीय श्लेष वक्रोक्ति।

आधुनिक युग के प्रमुख आलोचक डॉ नगेंद्र ने वक्रोक्ति को ' कलावाद' कहा है क्योंकि कला काव्य का प्रमुख तत्व है और काव्य में कला का निरूपण किस प्रकार करना है यह पूर्णत: कवि की प्रतिभा पर निर्भर है।

१.३ आचार्य कुंतक का वक्रोक्ति सिद्धांत

आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति अलंकृति है और काव्य में प्रयुक्त सभी शब्द और अर्थ अलंकार्य है। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य को शोभित करने वाला प्रमुख तत्व माना है और इसलिए उसे अलंकृति मान अन्य को अलंकार्य माना है। वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्व को व्याख्यायित करते हुए इसे काव्य का प्राण तत्व स्वीकार किया है। और अपने ग्रंथ ' वक्रोक्ति जीवितम्' मे लिखा है

' वक्रोक्ति: काव्य जीवितम्'

आचार्य कुंतक ' वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रंथ में वक्रोक्ति सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या देते हुए लिखते हैं:-
शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणी ।। १,७ ।।
आचार्य कुंतक के कथनानुसार काव्य में शब्द का अर्थ सहित चमत्कारिक प्रयोग करना कवि की काव्य कौशल्यता पर निर्भर करता है और एक उच्च कोटि का काव्य रमणीय होता है मन को आनंदित और तृप्त कर देता है।

एक अन्य पद में आचार्य कुंतक लिखते हैं:-
उभावेता वलंकार्यो तयो: पुनरलंकृति: ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्घ्यभंगी भणितिरूच्यते ।। १,१० ।।

कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति अलंकृति है और भग्ङिमा उक्ति को शोभा प्रदान करती है। उक्ति(कथन) में सौंदर्य, सजावट और चमत्कार का प्रतिपादन वक्रोक्ति द्वारा होता है। इसीलिए वक्रोक्ति काव्य का सर्वस्व है। इसके बिना काव्य निरीह है। उक्ति में सौंदर्य और सजावट का कार्य पूर्णत: कवि पर निर्भर करता है उसकी प्रतिभा पर निर्भर करता है। क्योंकि कवि कर्म की कुशलता से उत्पन्न कथन चमत्कार उसके वर्ण्य विषय में धर्म या विशेषता के साथ प्रतिपादित होता है। तभी वक्रोक्ति स्थापन होती है। इस प्रकार वक्रोक्ति का सौंदर्य विशेषत: शब्द और अर्थ में समाहित है कुंतक के अनुसार शब्द और अर्थ अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकृत है। कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति तीन गुणों सें सुसज्जित होती है:-

१. काव्यशास्त्र और लोक व्यवहार में प्रसारित कथन भंगिमा से भिन्न होती है।
२. कवि कौशल्य से उद्भुत चमत्कार पर निर्भर करती है।
३. सहृदयाहलादन की क्षमता,सहृदयाहलादन से तात्पर्य है काव्य में शब्दों का निरर्थक प्रयोग और निकृष्ट काव्य की गणना वक्रोक्ति में नहीं होगी।

१.४ वक्रोक्ति के प्रकार

व्याकरण तथा काव्यशास्त्र के समन्वय के आधार पर कुंतक ने वक्रोक्ति के छ: भेद माने है जो इस प्रकार है:-

१. वर्णविन्यास वक्रता
२. पद पूर्वार्द्ध वक्रता
३. पद परार्द्ध वक्रता
४. वस्तु या वाक्य वक्रता
५. प्रकरण वक्रता
६. प्रबंध वक्रता

१ वर्णविन्यास वक्रता :-

वर्णो का विशेष संगठन और एक ऐसी योजना जो विषय को अलंकृत कर सके इसका हेतु काव्य में चमत्कार उत्पन्न होना है वर्णविन्यास वक्रता कहलाता है। इसके अंतर्गत शब्दालंकार, अनुप्रास, यमक आदि अलंकार आते हैं। रीतियों में कोमला, पुरुषा और उपनागरिका रीति का समावेश है। आचार्य कुंतक ने इस संदर्भ में कहा है 'वर्ण शब्दोडत्र व्यंजन पर्याय:' इस से तात्पर्य वर्ण का अभिप्राय व्यंजन से है और सभी वर्ण संबंधी चमत्कार वर्ण विन्यास वक्रता में समाविष्ट है। इस संबंध में कुंतक ने कुछ नियम भी प्रस्तुत किए हैं:-

i कुंतक का मानना है वर्ण विषय के अनुरूप होने के साथ-साथ विषय की शोभा बढ़ाने वाला होना चाहिए काव्य में जहाँ कोमल भावों की अभिव्यक्ति हो वहाँ कठोर भाव का आना अनुचित है जैसे द- वर्ग, क- वर्ग,च- वर्ग आदि।

ii वर्ण विन्यास वक्रता में अनौचित्य वर्णो का अट्टहास पूर्वक प्रयोग न हो।

iii वर्ण विन्यास वक्रता में काव्य को शोभायुक्त बनाने के लिए वर्ण विन्यास में नए-नए वर्ण प्रयुक्त हो पहले से प्रयोग किए जा रहे वर्णो की अधिकता न हो।

iv यमक अलंकार के साथ प्रसाद गुण की योजना होना सही वह उचित माना है।

v वर्ण विन्यास श्रुति रंजक से युक्त होना चाहिए।

२ पदपूर्वाध वक्रता :-

यह पद वक्रता का ही रूप है पद वक्रता में व्याकरण संबंधी प्रयोगों में विच्छिति या वैचित्र्य समाहित रहता है। कुंतक द्वारा पदपूर्वाध वक्रता के दस रूपोंका वर्णन किया है -

i) रूढि वैचित्र्य वक्रता:-

इसमें रूढि अर्थात परंपरागत मान्यता का वैचित्र्य होता है। प्रस्तुत वर्ण की प्रशंसा या प्रतिकार का भाव उपस्थित करने के लिए रूढि अर्थ के माध्यम से सौंदर्यता से युक्त अर्थ का प्रयोग होता है उसे रूढि वैचित्र्य वक्रता कहा जाता है जैसे:-

धरनि सुता धीरज धरयो समय सुधरम विचारि ।।

(रामचरितमानस अयोध्या काण्ड - दोहा - २८६)

इस दोहे में धरती सब कुछ सहन करने वाली है यह भाव रूढि गत है।

ii) पर्याय वक्रता:-

पर्याय पर आधारित वक्रता पर्याय वक्रता कहलाती है। एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले वर्ण पर्यायवाची कहलाते हैं। कवि कौशल्य द्वारा ऐसे पर्याय का प्रयोग जो घनिष्ठता रखता हो, अर्थ की पुष्टि करता हो, संभाव्य अर्थ की सूचना दें इससे काव्य चमत्कार पूर्ण हो। वह पर्याय वक्रता कहलाता है। जैसे:-

munotes.in

" बार-बार है किया पराजित

सुधा पायियों को असुरों ने

भाग किया वज्रधर धा धा

छोड़ हमें इंद्राणी ।"

यहाँ इंद्र के लिए वज्रधर और सुधापायि पर्यायी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

iii) उपचार वक्रता :-

काव्य शास्त्रीय पद्धति में उपचार का अर्थ है आरोप, सादृश्य और समानता। इस वक्रता में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में एक मूर्त और दूसरा अमूर्त होता है। यहाँ मूर्त उपमेय के लिए और अमूर्त उपमान के लिए प्रयोग किया जाता है वहाँ उपचार वक्रता होती है।

इस वक्रता के अंतर्गत रूपक अलंकार आते हैं। हिंदी साहित्य में छायावादी कवियों की रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग दिखाई देते हैं:-

" हे लाजभरे सौंदर्य बता दो, मोहन बने रहते हो क्यों?"

यहाँ सौंदर्य का लाज भरे होना उपचार वक्रता है।

iv) विशेषण वक्रता:-

विशेषण के प्रयोग से काव्य में शोभा उत्पन्न हो वहाँ विशेषण वक्रता होती है। काव्य में विशिष्ट पद्धति से सौंदर्य की अभिव्यक्ति करना और अलंकार प्रयोग से काव्य की सौंदर्य शीलता में वृद्धि करना जैसे:-

" तारक चिन्ह दुकूलिनी, पी - पी कर मधु पात्र।

उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर पात्र।।"

यहाँ श्यामा के लिए तारक चिन्ह दुकूलिनी विशेषण रूप में प्रयुक्त है।

v) संवृत्ति वक्रता:-

जहाँ उक्ति में वैचित्र्य कथन के उद्देश्य से वस्तु का गोपन (छिपाना) किया जाता है वहाँ संवृत्ति वक्रता है।

vi) प्रत्यय वक्रता:-

जहाँ प्रत्यय से कोई विशेष औचित्य पूर्ण चमत्कार उत्पन्न हो वहाँ प्रत्यय वक्रता होता है।

" पिय सो कहेउ सँदेसड़ा हे भौरा हे काग ।

सो धनी बिरहै जरि मुई तेहिक धुँवा हम लाग ॥" (जायसी)

इस उदाहरण में 'सँदेसड़ा' में 'डा' प्रत्यय जोड़ने से प्रत्यय वक्रता का चमत्कार दृष्टिगत होता है।

munotes.in

vii) वृत्ति वक्रता:-

वृत्ति से तात्पर्य व्याकरण के अंतर्गत आने वाले समास, तद्धित, नाम,धातु आदि वृत्तियों से है जहाँ मुख्यतः अव्ययीभाव रमणीय हो जैसे:-

"तुम कौमुदी - सी पराग पथ पर
संचार करती चलो मधुरिमा।"

यहाँ मधुर शब्द का प्रयोग न कर मधुरिमा का प्रयोग किया गया है।

viii) भाव वैचित्र्य वक्रता:-

जहाँ क्रिया साध्य रूप में प्रयोग ना होकर सिद्ध रूप में प्रयुक्त हो वहाँ भाव वैचित्र्य वक्रता मानी जाती है जैसे-

"चलित स्नान स्नान हित शोभा- वलयित
गीत- सदृश चित प्रिय- छवि निर्मित,
क्षालित शत- तरंग- तनु- पालित
अवगाहित प्रगति धृति निर्मल।"

इसमें क्रियापद साध्य रूप में प्रयुक्त ना होकर सिद्ध रूप में है।

ix) लिंग वैचित्र्य वक्रता:-

जहाँ लिंग संबंधी प्रयोग में वैचित्र्यता दिखाई दे वहाँ लिंग वैचित्र्य वक्रता होती है जैसे :

" तुम रूप राशि हो दीपशिखा,
तुम शशि सुंदर, तुम कमल कली,
तुम हो गुलाब का फूल,
हमारे उर उपवन में रहो खिली।"

उक्त पंक्तियों में ' दीपशिखा' स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों रूपों में प्रयोग सें चमत्कार उत्पन्न हुआ है।

x) क्रिया वैचित्र्य वक्रता:-

क्रिया के प्रयोग से काव्य की सुंदरता बढ़े वहाँ क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है जैसे

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै भौंहन हँसे, देन कहै नटि जाय ।।"

उक्त उदाहरण की दूसरी पंक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न क्रिया प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न हुआ है।

३ पद परार्ध वक्रता :-

पद परार्द्ध वक्रता में पदों के उत्तरार्ध में वैचित्र्य का विश्लेषण होता है इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। यह वक्रोक्ति में काल कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय तथा पदवक्रता के रूप में निरूपित होती है।

१ काल वैचित्र्यवक्रता :-

जहाँ काव्य के उद्दीष्ट के अनुरूप काल के प्रयोग से सौंदर्य निर्माण हो, वहाँ काल वैचित्र्य वक्रता होती है -

नासा मोरि नचाय दृग करि कका की सौंह ।

काँटे सी कसकति हिये कटीली भाँह ॥" (बिहारी)

नायक के हृदय में नायिका की भौंह जब गड़ी हो यहाँ गड़ी से तात्पर्य चुभने से नहीं कसक से है ।

२ कारक वक्रता

जब काव्य में कारक के माध्यम से चमत्कार उत्पन्न हो वहाँ कारक वक्रता होती है। इसमें सामान्य कारक को प्रधान रूप में और प्रधान कारक को सामान्य रूप में प्रस्तुत कर उसका विपर्यय कर दिया जाता है। जैसे -

"कोमल आँचल ने पोछा मेरी गीली आँखों को ।"

उक्त पंक्तियों में आँचल के द्वारा चेतन का प्रयोग हुआ है जो उसका कर्ता कारक प्रयोग है और चमत्कार उत्पन्न करने वाला है ।

३ वचन वक्रता : -

वचन वक्रता में एकवचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एक वचन के प्रयोग से रमणीयता सिद्ध होती है जैसे :-

"अगनित वसंत की रंग, गंध उठ धाई ।

ऐसी मुस्कान की जैसे चाँदनियाँ छिटकी ।

उक्त पंक्ति में चाँद को चाँदनियाँ कह कर बहुवचन का बोध स्पष्ट है जो सौन्दर्य वर्धक है।

४ पुरुषवक्रता :-

जहाँ पुरुष के विपर्यय यर्थात पुरुष (अन्य,मध्यम, उत्तम) में विपर्यय (मध्यम की जगह उत्तम, उत्तम की जगह, मध्यम या अन्य का प्रयोग) के प्रयोग से सौन्दर्य उद्भुत हो उसे पुरुष वक्रता कहते हैं :-

" करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये !"

इस उद्धरण में उर्मिला ने उत्तम पुरुष की जगह इस जन(अन्य पुरुष) का प्रयोग किया है।

५ क्रिया वक्रता :

संस्कृत भाषा में क्रिया (धातू) के दो पद का उल्लेख है - परस्मैपद और आत्मनेपद | इनका प्रसंगानुसार प्रयोग काव्य, में वैचित्र्य उत्पन्न करता हो उसे क्रिया वक्रता कहते है। क्रिया वक्रता को उपग्रह वक्रता भी कहा जाता है। यह हिन्दी में उदाहृत नहीं होता है।

munotes.in

६ प्रत्यय वक्रता :

यहाँ छोटे-छोटे प्रत्ययों के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न होता है जैसे:-

'पिय सों कह्यो संदेसड़ा, हे भौरा हे काग !'

उक्त पंक्ति में हे भौरा हे काग छोटे छोटे प्रत्यय है जिनसे पंक्ति में सौंदर्य वृत्ति का विस्तार हुआ है।

७ निपात वक्रता :

निपात के प्रयोग से काव्य में सौंदर्य उत्पन्न हो वहाँ निपात वक्रता होती है निपात का अर्थ होता है अतिरिक्त भार देने के लिए प्रयोग किये जाने वाले शब्द जैसे - हाँ, भी, जी, नहीं, न, काश आदि -

"प्रिय निराश्रित की कठिन बाँहे नहीं ।

शिथिल पड़ती है प्रलोभन भार से ।।"

यहाँ पक्तियों का विशिष्ट अर्थ 'नहीं' शब्द से सम्पूर्ण काव्य रचना सज गई है।

४. वाक्य वक्रता :-

वाक्य का चमत्कार पूर्ण वर्णन वाक्य वक्रता कहलाता है । इसके अंतर्गत वाक्य में किसी सुन्दर वस्तु का चमत्कार पूर्ण वर्णन होता है। वाक्य वक्रता में दो प्रकार के वर्णन अपेक्षित है पहला वर्णन स्वभाविक होता है और दूसरा वर्णन कवि कौशल्य द्वारा चमत्कारिक होता है । जिसे क्रमश: सहजा और आहार्या कहा जाता है। आचार्य कुन्तक वाक्य वक्रता में अलंकार को महत्वपूर्ण मानते है क्योंकि कवि की प्रतिभा से उद्भवित वर्णन से उत्पन्न चमत्कार अलंकार है। साथ ही उत्तम अलंकार के प्रयोग से हृदय या मनःस्थिति वस्तु से हटकर अभिव्यंजना पर केन्द्रित हो जाती है। उदाहरण,

घिर रहे थे घुंघराले बाल,

अंश अवलंबित मुख के पास |

नील घन शावक से सुकुमार,

सुधा भरने को विधु के पास । (कामायनी - जयशंकर प्रसाद)

उक्त पंक्तियों में श्रद्धा के सुन्दर मुख पर बिखरे धुंघराले बालों का स्याम घन शावक है। आगे की पंक्तियों में चंद्र के पास सुधा (अमृत) भरने के लिए जाना अत्यधिक सहज अलंकृत वर्णन है।

५. प्रकरण वक्रता:-

प्रबंध काव्य में एक प्रसंग या एक अंश को प्रकरण कहा जाता है । सम्पूर्ण प्रबंध में अनेक प्रकरण होते है यह प्रकरण कथा और अर्थगत दृष्टि से एक दूसरे से जुड़े होते हैं | प्रकरण वक्रता में किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाया जाता है यहाँ कवि उत्साह के साथ कलापूर्ण ढंग से किस प्रसंग को प्रकट करता है यह चमत्कार नायक द्वारा किये गये वीरता प्रसंग से भी प्रकट हो सकता है जिसे रामचरितमानस में धनुर्भङ्ग प्रकरण !

दूसरे प्रकरण वक्रता में कवि अपनी रचना को रोचक बनाने के लिए कल्पना का सहारा लेता है इसका उत्तम उदाहरण रामचरित मानस में पुष्प वाटिका प्रसंग है।

तीसरे- जहाँ ऐतिहासिक कथा में कालानुरूप कोई नवीन कल्पना की जाती है वहाँ भी प्रकरण वक्रता होती है जैसे - पद्मावत ग्रंथ में राजा रतनसेन अलाउद्दीन खिलजी द्वारा मारा गया इस कथा की जगह रतन सिंह का देवपाल के साथ युद्ध करते हुए मारे जाने का वर्णन है।

चौथे - जब ग्रंथ के सभी प्रकरण सौंदर्य और कल्पना के आधार पर एक दूसरे से जुड़े हो वहाँ भी प्रकरण वक्रता होती है इस प्रकार की विशेषता नाटक में देखी जा सकती हैं।

पाँचवी - प्रकरण वक्रता, वहाँ होती है जहाँ कवि किसी छोटे प्रसंग को रसमय और सुन्दर बनाने के उद्देश्य से अधिक विस्तार से वर्णन करता है । जैसे- सूरसागर का भ्रमरगीत सार

छटी - जहाँ प्रकरण में किसी विशेष प्रसंग की कल्पना से चमत्कार हो वहाँ भी प्रकरण वक्रता होती है।

१.५ प्रबन्ध वक्रता

प्रबंध वक्रता का संबंध संपूर्ण प्रबंध से है यह वक्रोक्ति का विस्तारित रूप है प्रकरण वक्रता की तरह प्रबंध वक्रता अनेक रूपों में दृष्टिगत होती है

१ ऐतिहासिक वृतात को कवि अधिक सौन्दर्य युक्त और रस सिक्त बना देता है यदि ऐसा करने से प्रबंध के सौंदर्य और उससे प्राप्त आनंद में वृद्धि हो वहाँ प्रबंध वक्रता होती है जैसे वेणी संहार, मेघनाद वध आदि

२ जहाँ कवि पूरे प्रबंध में से किसी एक अंश को जो सर्वाधिक सरस है अधिक रोचक बनाये और अन्य को उसकी अपेक्षा कम रूचिकर रखे यदि ऐसा करने से जो साहित्य या प्रबंध सरस हो जाये वहाँ प्रबन्ध वक्रता होती है। जैसे : प्रिय प्रवास

३ जहाँ प्रबंध का निर्माण किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए किया जाये और नायक के सर्व गुण को (वीरता, बुद्धि और चारित्र्य) रमणीयता से प्रस्तुत करने का हेतु भी प्रबंध वक्रता है जैसे- रामचरित मानस के राम

४ जिस प्रबंध का किसी केन्द्रिय घटना के आधार पर नाम करण हो वहाँ प्रबंध वक्रता होती है। जैसे-जयद्रथ वध

५ एक ही कथानक पर जब अनेक प्रबंध लिखे जाने लगे लेकिन उसी कथानक को कवि किसी नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत करे वहाँ प्रबंध वक्रता होती हैं।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धांत काव्य में वैशिष्ट्यगत सौंदर्य को निरूपित करता है इसके अंतर्गत शैलीगत विशेषताएँ, अलंकार, रीति, ध्वनि, रस, औचित्य, प्रबंध, पद, क्रिया, विशेषण आदि सभी समाहित है वक्रोक्ति सिद्धांत सर्वागीण दृष्टि से काव्य की सौंदर्य व रमणीयता का विश्लेषण सूक्ष्म व व्यापक दृष्टि से करता है। पाश्चात्य व भारतीय साहित्य के कई विद्वानों ने वक्रोक्ति को साहित्य लोचन में महत्वपूर्ण स्थान दिया । लेकिन सिद्धांत रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय आचार्य कुंतक को जाता है।

munotes.in

१.६ वक्रोक्ति सिद्धांत का मूल्यांकन

वक्रोक्ति कुंतक पूर्व आचार्य भामह काल से ही अलंकार रूप में जानी जाती थी | वक्रोक्ति को सिद्धांत के रूप में प्रवर्तित कुंतक ने किया ! इस सिद्धांत से पूर्व रस, अलंकार, रीति और ध्वनि सिद्धांतो को काव्य में सरस समझा जाता था | इनमें सर्वाधिक प्रचलित सिद्धांत ध्वनि सिद्धांत माना जाता था। ध्वनि को काव्य की आत्मा और अलंकार को काव्य-अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी कारण कुन्तक ने अलंकार वक्रोक्ति को सिद्धांत रूप प्रदान कर इसकी काव्य में व्यापकता और महत्व समझाया| वक्रोक्ति सिद्धांत व्यापक है इसके अंतर्गत वर्ण- चमत्कार, शब्द सौंदर्य, अप्रस्तुत विधान, पद, प्रकरण, प्रबध आदि सभी काव्यांगों के साथ रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सिद्धांतों को भी समाहित किया इसमे काव्य को सौंदर्य प्रदान करने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म और व्यापक से व्यापाधिक तत्वों का समावेश है । वक्रोक्ति का प्रथम गुण उसकी सर्वांगीणता है।

कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का समृद्ध अंग माना है अंगी वक्रता की स्थिति होने के कारण रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति कायम है।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है परंतु काव्य की आत्मा नहीं हो सकता यह सही है कि शरीर के न होने पर आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव नही है पर व्यक्तित्व आत्मा नहीं हो सकता यही वक्रोक्ति सिद्धांत की सीमा है।

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने वक्रोक्ति के महत्व को गौण कर दिया और इसकी मान्यता मात्र एक अलंकार के रूप में ही रह गई। लेकिन इस सिद्धांत से काव्य के वस्तू तत्व का विकास परिलक्षित होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धांत के अतिरिक्त कोई व्यवस्थित सिद्धांत है तो वह वक्रोक्ति सिद्धांत है जो कला का विवेचन और महत्व प्रस्तुत करता है | वक्रोक्ति सिद्धांत ने कला की अपरिसीमित व्याख्या प्रस्तुत कर अमूल्य योगदान दिया है।

१.७ वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद :

वक्रोक्ति सिद्धांत के विस्तृत जानकारी के पश्चात उसकी उपेक्षा की अवधारणा आधुनिक काल में आचार्य रामचंद्र शुक्लजी के कथन से प्रारंभ होती है जिसमें उन्होंने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्ति सिद्धांत का विलायती उत्थान कहा है और दोनो सिद्धांतो को अमान्य करार दे दिया । शुक्लजी के समय के लगभग सभी आचार्यो, आलोचकों ने वक्रोक्ति सिद्धांत के पूर्णत: अध्ययन के बिना ही, इसे असंगत मान लिया। आचार्य शुक्ल रसवादी चिन्तक थे उनके द्वारा की गई सभी प्रतिक्रियाओं पर रस सिद्धांत की परिछाया मिलती है यही कारण है कि उन्होंने वक्रोक्ति सिद्धांत को जाने बिना उस पर नकारात्मक प्रतिक्रिया दे दी ।

अभिव्यंजना वाद के प्रवर्तक क्रोचे आत्मवादी और सौंदर्यशास्त्री चिंतक है । अभिव्यंजनावाद में उन्होंने कविताओं के साथ ललित कलाओं पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं उन्होंने कविता के सम्बंध में कहा है- कविता मात्र सृजन प्रक्रिया है जिसमें सामाजिकता और सहृदयता का कोई संबंध नहीं है।

क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद का प्रयोग वैयक्तिक पारिभाषिक शब्द के रूप में किया है, भावों- विचारों को नगण्य माना है । क्रोचे ने सृजन और अभिव्यंजना को एक दूसरे का पर्याय माना है | आत्मा में उद्भवित बिम्बों की अभिव्यक्ति सृजन है और रंगो, रेखाओं, शब्दों का बाह्य प्रकाशन अभिव्यंजना है । इस प्रकार क्रोचे के अनुसार कला का प्रमाण कलाकार हैं, सामाजिकता की कोई सत्ता नहीं है, और कला का विश्लेषण आवश्यक है।

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धांत क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से भिन्न है कुन्तक ने सामाजिकता को प्रमुख माना है, और काव्य में सामाजिकता को वस्तुगत रीति से समीक्षा करते हुए उसका मूल्यांकन किया है। काव्य भाषा और काव्य वस्तु काव्य का प्रमुख दृश्य प्रस्तुत करने वाला है कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदों के अनुसार, काव्य की सृजन प्रक्रिया का कोई भी रूप प्रस्तुत नहीं किया है - काव्य मे वर्ण का विशेष गुण सभी सिद्धांतों में स्वीकार किया गया है कुन्तक ने इसे वर्ण वक्रता कहा है और अन्य आचार्यों की दृष्टि में यह अनुप्रास अलंकार है । इस प्रकार दोनो सिद्धांत के अध्ययन से डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने 'काव्य में अभिव्यंजना वाद' नामक ग्रंथ में और रामनरेश शर्मा के 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद' नामक पुस्तक में दोनो मतो का विस्तार से अध्ययन कर दोनों में समानता और विषमता का उल्लेख किया गया है।

समानता:-

१ कुंतक के वेदग्ध्य-भंगी-भणिति' और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद दोनो में काव्य कौशल और कल्पनातत्व समान है।

२ दोनो आचार्य कलावादी हैं।

३ दोनो सौन्दर्यवादी कवि है।

४ दोनो काव्य में उक्ति को अखण्ड और अविभाज्य मानते हैं

५ दोनो सिद्धांत में अभिव्यंजना काव्य का प्राणतत्व है।

विषमता :-

१ क्रोचे आत्म तुष्टि को काव्य का लक्ष्य मानते हैं जो मानसिक अभिव्यक्ति से पूर्ण हो जाता है। कुन्तक के अनुसार सहृदय के मन को प्रसन्नता प्रदान करना काव्य का प्रमुख लक्ष्य है।

२ अभिव्यंजना का संबंध दर्शन से है और वक्रोक्ति का उक्ति वैचित्र्य से

३ वक्रोक्ति सिद्धांत में कवि कौशल्य प्रमुख है। अभिव्यंजनावाद में सहजानुभूति ।

४ वक्रोक्ति सिद्धांत का ध्येय साहित्यिक है और अभिव्यंजनावाद दर्शन से संबंधित है।

५ वक्रोक्ति मूर्त रूप पर केन्द्रित है जबकि अभिव्यंजना सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया पर

१.८ सारांश

वक्रोक्ति काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण सिद्धांत है इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुंतक है आचार्य कुंतक के इस सिद्धांत के प्रदीर्घ अध्ययन से हमने जाना कि काव्य में सौंदर्य और भंगिमा युक्त अभिव्यक्ति

सहृदयों के लिए आहलाद कारी है इससे रहित काव्य मात्र सामान्य बात-चीत ही कहलायगा । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धांत की व्यापकता वर्ण से लेकर प्रबंध तक छ: भेदो के माध्यम से व्याकरण सम्मत बनाकर प्रस्तुत की है । कालानुरूप आचार्य विश्वनाथ और मम्मट ने वक्रोक्ति सिद्धांत का खंडन कर उसे अलंकार के रूप में सीमित कर दिया | वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में हिन्दी के आलोचकों ने भी माना है और छायावादी कवियों ने वक्रोक्ति का अनेक रूप में प्रयोग अपने काव्य में किया है ।

१.९ दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. वक्रोक्ति का अर्थ व स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

२. आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धांत की समीक्षा कीजिए ।

३. वक्रोक्ति के भेद को विवरणात्मक ढंग से समझाइए

४. वक्रोक्ति सिद्धांत का मूल्यांकन कीजिए।

१.१० लघुत्तरीय प्रश्न

१. वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तक कौन है ?

२. आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के कितने भेद माने हैं?

३. आचार्य कुन्तक से पूर्व सर्वप्रथम कौनसे आचार्य ने वक्रोक्ति पर चर्चा की?

४. आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को क्या माना है ?

५. वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ क्या है ?

६. किसी वर्ग वस्तु के चमत्कार पूर्ण वर्णन को क्या कहते हैं?

१.११ उपयोगी पुस्तकें

१. काव्यशास्त्र - भागीरथ मिश्र

२. भारतीय काव्य शास्त्र - रामानंद शर्मा

३. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत - हीरा राजवंश सहाय |

४. भारतीय काव्यशास्त्र - डॉ. तारकनाथ बाली

* * * * * *

munotes.in

इकाई : १

२

ध्वनि सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा :

२.० उद्देश्य
२.१ प्रस्तावना
२.२ ध्वनि की परिभाषा
२.३ ध्वनि सिध्दांत की अवधारणा
२.४ ध्वनि के भेद
२.५ ध्वनि सिध्दांत का महत्व
२.६ सारांश
२.७ लघुत्तरी प्रश्न
२.८ दीर्घोत्तरी प्रश्न
२.९ संदर्भ पुस्तकें

२.० उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप ध्वनि सिध्दांत की मूल अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- ध्वनि का अर्थ समझ सकेंगे।
- ध्वनि सिध्दांत के बारे में समझ सकेंगे।
- ध्वनि सिध्दांत के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- ध्वनि के विभिन्न भेदों को जान पाएँगे।

२.१ प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में विभिन्न सिद्धांतों या संप्रदायों का जन्म काव्य की आत्मा की खोज से जुड़ा हुआ है। ध्वनि सिद्धांत भी काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने वाला सिद्धांत है। इसका केंद्र बिंदु है- "काव्यास्यात्मा ध्वनि:" अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है। भारतीय काव्य सिद्धांतों में ध्वनि सिध्दांत का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का संबंध व्यंजना शब्द शक्ति से हैं। ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक आनंदवर्धन माने जाते हैं। उनकी मान्यताएँ 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ में उपलब्ध हैं। ध्वनि की परंपरा आनंद वर्धन से पूर्व भी विद्यमान थी।

munotes.in

अलंकारवादी आचार्यों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया फिर भी अनेक अलंकारों के लक्षणों अथवा उदाहरणों में स्पष्ट अथवा प्रकारांतर से ध्वनि के संकेत मिल जाते हैं। आनंदवर्धन ने ध्वनि सिध्दांत की पहली बार व्यवस्थित व्याख्या की किंतु उनका प्रबल विरोध हुआ। बाद में आचार्य मम्मट ने अपने विवेचन द्वारा ध्वनि सिद्धांत की पुन: स्थापना की।

२.२. ध्वनि की परिभाषा

जिस प्रकार शब्द के अलग-अलग वर्गों के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार अभिधा या लक्षणा द्वारा भी संपूर्ण और विशेषत: मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। यह मार्मिक अर्थ व्यंजना के द्वारा प्राप्त होता है। अभिधा और लक्षणा के उपरांत व्यंजना से ध्वनित होने वाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है। यह ध्वनि ध्वन्यालोककार ने अनुरणन के रूप में मानी है। जिस प्रकार घण्टे पर आघात करने पर पहले टंकार और फिर मधुर झंकार एक के बाद अधिक मधुर ध्वनि निकलती है,उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता है। इस प्रकार ध्वनित होने वाला व्यंग्यार्थ जहाँ प्रधान होता है, वहाँ ध्वनि मानी गयी है।

आनंदवर्धन के शब्दों में -"ध्वनि काव्य वह विशिष्ट प्रकार का काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छुपाए हुए उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है। "

२.३ ध्वनि सिध्दांत की अवधारणा

'ध्वनि' शब्द का सामान्य अर्थ है- शब्द, आवाज, नाद। शब्दार्थ की दृष्टि से ध्वनि कानों में सुनाई देने वाले नाद को कहते हैं। इस अर्थ के पाँच रूप संभव हैं- जो ध्वनित करें या कराएं वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य शब्द से है। जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य वस्तु रस अलंकार से है। जिस कारण के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति हो, वह ध्वनि है। इसका तात्पर्य शब्दशक्ति से है। ध्वनित होने का भाव ध्वनि है। अभीव्यंजन, सूचना आदि इसके पर्याय हैं। जिसमें अर्थ ध्वनित हों, उसे ध्वनि कहते हैं। इसका तात्पर्य ध्वनि काव्य से है।

'ध्वनि' शब्द का अर्थ सिर्फ नाद तक ही सीमित नहीं है अपितु ध्वनि लोक में पद तथा अर्थ की प्रतीति कराने वाला तत्व हैं। आनन्दवर्धन ने अपनी रचना 'ध्वन्यालोक' के माध्यम से ध्वनि सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया। आरंभ में 'ध्वन्यालोक' के रचयिता को लेकर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं था किंतु कालान्तर में उस विवाद पर विराम लग गया और आचार्य आनन्दवर्धन 'ध्वन्यालोक' के रचयिता होने के कारण निर्विवाद रूप से ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाने लगे। ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्थापित करने वाले आचार्य के रूप में आनन्दवर्धन की प्रतिष्ठा है। आनन्दवर्धन से पहले भी ध्वनि की चर्चा हुई किंतु उसका व्यवस्थित विवेचन आनन्दवर्धन ने ही किया। ध्वनि का सीधा संबंध शब्द शक्तियों से है। इसीलिए शब्द शक्तियों के आधार पर ध्वनि का वर्गीकरण भी किया गया। इसी प्रकार रस और अलंकार के आधार पर भी ध्वनियाँ चिह्नित की गई। ध्वनि सिद्धांत शैव

दर्शन तथा स्फोट सिद्धांत से भी जुड़ा हुआ है। स्फोट ही ध्वनियों का आधार है। मंदिर के घंटे में होने वाला ध्वनि का अनुरणन ही शब्द का अर्थ व्यंजित करता है। रमणीय और चमत्कारपूर्ण अर्थ व्यंजित में वाली ध्वनियाँ ही वास्तव में श्रेष्ठ होती हैं। कुल मिलाकर ध्वनि व्याकरण तथा दर्शन दोनों स्तरों पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी महत्ता इन दोनों ही स्तरों पर मानी जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का उल्लेखनीय स्थान एवं महत्व है।

ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ 'उच्चरित नाद' है। 'नाद एवं 'ध्वनि' सामान्यतः अर्थ की दृष्टि से एक दूसरे के पर्याय हैं। आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि सिद्धांत को स्वीकार किया है, वह व्याकरण और शैव दर्शन पर आधारित है - "प्रथमो विद्वांसो हि वैयाकरणा: ते च श्रूयमाणेबु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति"। अर्थात् वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि का व्यवहार बताते हैं। श्रूयमाण वर्ण ही ध्वनि सिद्धांत का मूलाधार है। पतंजलि ने महाभाष्य में 'लोक में पद और अर्थ की प्रतीत कराने वाले 'श्रूयमान नाद' को ध्वनि कहा है। पतंजलि ने ध्वनि सिद्धांत के लिए आधारभूत तत्व 'स्फोट' का उल्लेख किया है। स्फोट शब्द का आशय है- जिसमें अर्थ स्फुटित (प्रकट) हो, वह स्फोट है। ध्वनि ही अर्थ के स्फोट (प्राकट्य) का कारण है। 'नाद' और 'स्फोट' के बीच व्यंजक-व्यंग्य संबंध है। नाद् ध्वनि है और स्फोट स्फुटित शब्द या अर्थ। वैयाकरणों के अनुसार स्फोट नित्य शब्द है तथा ध्वनि श्रूयमाण शब्द है, जो अनित्य है। स्फोटवादियों से आनंदवर्धन ने ध्वनि शब्द को ग्रहण किया है किन्तु उसे साहित्यशास्त्र के अनुकूल बनाकर। 'ध्वनि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग नवम् शताब्दी के मध्य आनंदवर्धन के युगांतकारी ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। आनंदवर्धन ने ध्वनि संबंधी स्थापना को विधि और निषेध दो रूपों में प्रस्तुत किया है। विधि रूप स्फोटवाद है और निषेध रूप में उन आचार्यों के मतों का खंडन है, जो अभिधा और लक्षणा से इतर व्यंजना शक्ति को नहीं मानते। स्फोटवादियों के अनुसार उच्चरित वर्णों की पूर्वापरता से श्रोता के मन में अनुभव का संस्कार उत्पन होता है और पद के अंतिम वर्ण के उच्चारण के बाद मन में स्थित पद और उसके बाद पदार्थ की प्रतीति होती है।

भारतीय काव्य-संप्रदायों में ध्वनि संप्रदाय का स्थान अति महत्वपूर्ण है। आनंदवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना और ध्वनि का संबंध व्यंजना शक्ति से स्वीकार किया। ध्वनि की परिभाषा देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है -

'वाच्यार्थ से अधिक रमणीय या चमत्कारक व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं।'

इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ तो होता ही है, किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है; उस प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ से अधिक महत्वपूर्ण होना भी अपेक्षित है। यहाँ दो बातें महत्वपूर्ण हैं-

१) अर्थ का अपने को गौण बनाना और शब्द का अपने को गौण बनाना।

२) एक अन्य अर्थ विशेष को व्यक्त (व्यंजित) करना। इसी व्यंजित होने वाले अर्थ को वे प्रतीयमान की संज्ञा देते हैं। इस प्रतीयमान का अर्थ है भासित या आलोकित अर्थ।

आचार्य मम्मट एवं पंडित राज जगन्नाथ उत्तमोत्तम काव्य रूप ध्वनि (काव्य) के लिए प्रायः आनंदवर्धन की ही पुनरावृत्ति करते हैं ध्वनि की यह परिभाषा, इस प्रकार दो अभिप्रायों से युक्त मानते हैं।

१) जहाँ शब्द एवं अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर उस (प्रतीयमान व्यंग्य) अर्थ को व्यक्त करें, वह प्रतीयमान अर्थ विशेष ध्वनि है।

२) जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशयित या उत्कर्ष प्रधान हो, वह ध्वनि है । आनंदवर्धन प्रतीयमान अर्थ को ही ध्वनि मानते हुए कहते हैं कि महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है, जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अन्य गुणादि तत्वों से भिन्न सुन्दरियों के लावण्य के समान (अलंकारादि) से अलग ही प्रकाशित होता है जिस प्रकार सुंदरियों का सौंदर्य समस्त अंगों से पृथक दिखाई देता है, उसी प्रकार ध्वनि भी काव्य के सब रूपों में अपना पृथक् अस्तित्व रखता है । ध्वनि काव्य,वह विशिष्ट प्रकार का काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाए हुए उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है। अतः यह विशिष्ट प्रकार का उत्तम काव्य है।

अनेक आचार्यों ने ध्वनि सिद्धांत का प्रबल समर्थन किया जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं:- आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' शीर्षक से एक प्रौढ़ टीका लिखकर ध्वनि के महत्व को निरूपित किया जो ध्वन्यालोकलोचन, काव्यलोक लोचन के नाम से प्रसिद्ध है। ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने ११वीं शती में अपने अकाट्य तर्कों द्वारा यह मत प्रतिपादित किया कि व्यंजना का अंतर्भाव अभिधा और लक्षणा में नहीं हो सकता । यह स्वतंत्र शब्दवृत्ति है । व्यंजना पर आधारित ध्वनि-सिद्धांत की इन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठा की है। इन्हें ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य कहा गया है। पं. विश्वनाथ ने १४वीं शती में इस सिद्धांत का पोषण किया, इन्होंने 'साहित्य दर्पण' में ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विस्तृत विवेचन किया तथा ध्वनि और व्यंजना की महत्ता स्वीकार की। पं. विश्वनाथ रसवादी होते हुए भी ध्वनि-मत के प्रबल समर्थक आचार्य हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने १७वीं शती में ध्वनि सिद्धांत का पोषण करते हुए ध्वनि काव्य को उत्तमोत्तम काव्य कहा । इन्होंने रसादि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रमहीन मानकर संलक्ष्यक्रम को भी स्वीकार किया। पं. जगन्नाथ ने ध्वनि के अनावश्यक भेदों को अमान्य घोषित कर इस सिद्धांत को अधिक व्यावहारिक बनाया । पं. जगन्नाथ ध्वनि प्रस्थान के अंतिम प्रौढ़ आचार्य हुए । भोजराज ने शृंगार प्रकाश में ध्वनि का विवेचन किया तथा तात्पर्य शक्ति को ध्वनि से अभिन्न मानकर इसके अंतर्गत ही ध्वनि का विवेचन किया । इन्होंने तात्पर्य के तीन भेद किए अभिधीयमान, प्रतीयमान और ध्वनिरूप तात्पर्य । भोज तात्पर्य को ही काव्य में ध्वनि मानते हैं। इसके अनुसार ध्वनि या व्यंग्यार्थ, तात्पर्य से अभिन्न है। **आनंदवर्धन** ने स्वीकार किया कि ध्वनिकाव्य सर्वोत्तम काव्य है। गुणीभूत व्यंग्य मध्यम काव्य है तथा व्यंग्यहीन काव्य अवर या अश्रेष्ठ काव्य है । इस प्रकार वाच्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट व्यंग्य ही विद्वानों के द्वारा

ध्वनि कही गयी है। ध्वनिकाव्य का संबंध वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से है अतः ध्वनि के स्वरूप को समझने के लिए शब्दशक्ति को जानना आवश्यक है।

स्थूल रूप में शब्द का अर्थ ध्वनि, वाक्य, पद कथन आदि भी होता है। शब्द की शक्ति असीम है। जिस शक्ति के द्वारा शब्द का अर्थगत प्रभाव पड़ता है वही शब्द शक्ति कहलाती है या शब्द का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति ही शब्दशक्ति है। शब्दशक्तियाँ तीन हैं-

१) अभिधा

२) लक्षणा

३) व्यंजना।

इनके संबंध से तीन प्रकार के शब्द होते हैं- वाचक, लक्षक और व्यंजक। तीन प्रकार के अर्थ होते हैं- वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ।

१) अमिधा : वह शब्द शक्ति जिससे मुख्य अर्थ का बोध होता है अभिधा कही जाती है। जिस शब्द से मुख्यार्थ का बोध हो वह वाचक कहलाता है तथा उससे निकलने वाला मुख्यार्थ वाच्यार्थ होता है। अभिधा के द्वारा तीन प्रकार के शब्दों की अभिव्यक्ति होती है

१) रूढ़

२) यौगिक

३) योगरूढ़ा रूढ़ :

ऐसे शब्द जिसकी कोई व्युत्पत्ति न हो, जैसे- पशु यौगिक : जिसकी व्युत्पत्ति हो और जो प्रकृति प्रत्यय के योग से बनते हैं। जैसे - पशुतुल्य।

योगरूढ़ : वे शब्द जो यौगिक होते हैं फिर भी उनका अर्थ रूढ़ हो जैसे- पशुपति।

२) लक्षणा : मुख्यार्थ में बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे, उससे संबंधित, जहाँ पर अन्य अर्थ लक्षित होता है वहाँ पर लक्षणा शक्ति होती है। उदाहरण- 'मेरा कुत्ता शेर है। यहाँ मुख्यार्थ बाधित होता है। कुत्ता, शेर कैसे हो सकता है, किंतु प्रयोजन से अर्थ निकला कि आवाज में और भयंकरता में शेर समान है।

३) व्यंजना : व्यंजना से आशय विशेष रूप से स्पष्ट करना। साहित्य दर्पणकार पं. विश्वनाथ के शब्दों में अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शांत होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है। यह वह शक्ति है, जो बाह्य सौंदर्य के रेशमी पर्दे को हटाकर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यक्त करती है, उसे व्यंजना कहते हैं।

munotes.in

उदाहरणार्थ- ऑफिस में बैठा हुआ कोई अधिकारी अपने क्लर्क से कहे 'मैं जा रहा हूँ तो उसका अर्थ हुआ कि अब ऑफिस का काम तुम सम्हालो। वस्तुतः इसी व्यंजना शक्ति का ध्वनि संप्रदाय में सर्वाधिक महत्व है। शब्द और अर्थ दोनों ही का व्यापार व्यंजना में रहता है। इस कारण व्यंजना के दो रूप हैं -

१) शाब्दी व्यंजना २) आर्थी व्यंजना

१) **शाब्दी व्यंजना :** यहाँ शब्द की प्रधानता हैं अर्थात् शब्द विशेष के कारण व्यंग्यार्थ निकलता है। यह दो प्रकार की होती है

क) अभिधामूलाशाब्दी व्यंजना

ख) लक्षणामूलाशाब्दी व्यंजना

२) **आर्थी व्यंजना:** जहाँ पर कोई भी शब्द क्यों न हो किन्तु अर्थ में अंतर नहीं पड़ता वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। यह शब्द शक्ति वक्ता, वाक्य आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है।

व्यंजना की प्रधानता के आधार पर ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत काव्य के तीन भेद किए हैं

१) ध्वनि २) गुणीभूत व्यंग्य ३) अवर

जहाँ वाच्यार्थ से अधिक महत्वपूर्ण व्यंग्यार्थ हो वह ध्वनि काव्य है। जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ कम चमत्कार हो, वह गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है। जहाँ व्यंग्यार्थ नहीं होता है वह अवरकाव्य है। इन तीनों में ध्वनिकाव्य उत्तम, गुणीभूत व्यंग्यकाव्य मध्यम तथा अवर काव्य को साधारण माना जाता है। लक्षणामूला ध्वनि (अविवक्षित वाच्य ध्वनि) जिसके मूल में लक्षणा हो अर्थात् लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है यहाँ व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है अतः यह लक्षणामूला ध्वनि कहलाती है। इसके दो भेद-

१) अर्थान्तर संक्रमित २) अत्यंततिरस्कृत

१) अर्थातर संक्रमित वाच्य ध्वनि जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न करके अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है वह अर्थांतर संक्रमित ध्वनि है। उदाहरण- तो क्या अबलाएँ सदैव अबलाएँ ही हैं बेचारी। यहाँ दूसरी बार 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ स्त्री में बाधित होकर अपने इस लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करता है कि वे अबलाएँ हैं अर्थात् निर्बल हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि उनके सदा पराधीन, आत्मरक्षा में असमर्थ या दया का पात्र नहीं होना चाहिए। यहाँ जो लक्ष्यार्थ किया जाता है वह वाच्यार्थ का रूपांतर मात्र है।

२) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि जिस ध्वनि में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग हो जाता है वह अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। यह लक्षण, लक्षणा पर आधारित है। यथा -'सकल रोओं से हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृह-द्वार' यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा बाधित है। रोओं से लोभ का हाथ

पसारना और घर-द्वार लूटना, एकदम असंभव है। लक्ष्यार्थ है लोभी का समस्त कोमल और कठोर साधनों से परकीय द्रव्य को आत्मसात् करना। इससे प्रयोजनरूप व्यंग्य है- लोभ या तृष्णा का आत्मतृप्ति के लिए दैन्य प्रदर्शन या बलात् सब कुछ कर सकने की क्षमता। इससे पदार्थ का अर्थ अत्यंत तिरस्कृत हो जाता है। अभिधामूलाध्वनि (विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि) जिसके मूल में अभिधा अर्थात् वाच्यार्थ संबंध हो अर्थात् अभिधामूला में सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है इस ध्वनि में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ पर आश्रित रहता है। इसके दो भेद हैं -

१) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

२) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि या रस ध्वनि संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि जहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर क्रम से व्यंग्यार्थ संलक्षित हो वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि होती है। इसे अनुरणन ध्वनि भी कहा जाता है। अनुरणन का अर्थ है, पीछे से होने वाली गूंज। जिस प्रकार घंटे पर चोट करने से टंकार के बाद झंकार सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पष्ट सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार इस ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ भी स्पष्ट होता है। इसके तीन प्रधान भेद माने जाते हैं-

१) शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि

२) अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि

३) शब्दार्थभियशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि जब वाच्यार्थ-बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ का बोध जिस शब्द द्वारा होता है, उसके बोध कराने की शक्ति केवल उसी शब्द में हो, उसके पर्यायवाची शब्द में नहीं, तब शब्दोद्भव अनुरणन ध्वनि होती है। इसके चार भेद हैं

क) पदगत वस्तु ध्वनि

ख) वाक्यगत वस्तु ध्वनि

ग) पदगत अलंकार ध्वनि

घ) वाक्यगत अलंकार ध्वनि पदगत वस्तु ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है-

जो पहाड़ को तोड़ फोड़कर राह बनाता जीवन निर्मल वही, सदा जो आगे बढ़ता पहाड़ से निकलने वाला जीवन (पानी) निर्मल होता है- यह वाच्यार्थ हुआ। जीवन। शब्द के श्लिष्ट होने से यह व्यंग्यार्थ निकला कि वही मनुष्य पवित्र व गतिशील है जो पहाड़ जैसी विपत्तियों को रौंदकर आगे बढ़ता हैं, यहाँ 'जीवन' शब्द से मानव जीवन का बोध हुआ, वह वस्तु रूप ही है। अतः यहाँ भी जीवन पद में होने से यह ध्वनि पदगत है।

munotes.in

१) **वाक्यगत शब्दशक्ति मूलक संलक्ष्यक्रमअलंकारध्वनि का उदाहरण** निम्नवत है-

चरन धरत चिंता करत भोर न भावे सोर

सुबरन को ढूंढत फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर

यहाँ चरन, चिंता, भोर, सोर, सुबरन श्लिष्ट हैं तथा कवि, व्यभिचारी, चोर, इन तीनों के क्रियायुक्त होकर विशेषण होते हैं। जैसे सुबरन का कवि के साथ सुंदर वर्ण, व्यभिचारी के पक्ष में सुंदर रंग, और चोर के साथ सोना, तीनों ढूंढते रहते हैं।

२) **अलंकार ध्वनि** जहाँ विशिष्ट शब्द प्रयोग के कारण प्रधान रूप से अलंकार का बोध हो, उसे अलंकार ध्वनि कहा जाता है।

बंदौ मुनि पद कंज, रामायन जेहिं निरभयउ सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित वस्तु ध्वनि वाल्मीकि के महत्व का प्रतिपादन है। यह रामायण में खर-दूषण की कथा से युक्त है किन्तु सखर सुकोमल एवं दोष रहित दूषण सहित में विरोधाभास अलंकार व्यंग्य है। (सखर से अत्यंत कर्कश एवं खर की कथा सहित तथा दूषण सहित अर्थात दोषयुक्त या खर के भाई दूषण की कथा के साथ) इसमें दोनों अर्थ दो विशिष्ट शब्दों पर आधारित विरोधाभास अलंकार को व्यक्त करते हैं अतः यहाँ शब्दशक्ति उद्भव के अंतर्गत अलंकार ध्वनि है।

अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि (स्वतः संभवी) जहाँ शब्द परिवर्तन के बाद भी अर्थात् उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी व्यंग्यार्थ का बोध होता रहे, वहाँ अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि होती हैं इसके मुख्य तीन भेद हैं। १) स्वतः संभवी २) कवि प्रौढ़ोक्ति ३) कवि निबद्धमान पात्र प्रौढ़ोक्ति सिद्ध इनमें से प्रत्येक के चार भेद होते हैं। क) वस्तु से वस्तु ध्वनि ख) वस्तु से अलंकार ध्वनि ग) अलंकार से वस्तु ध्वनि। घ) अलंकार से अलंकार ध्वनि वस्तु से वस्तु ध्वनि उदाहरण।

१) कोटि मनोज लजावन
२) हारे। सुमुखि! कहहु को आहिं तुम्हारे
३) सुनि सनेहमय मंजुलबबानी
४) सकुचिसीय मन महँ मुसुकानी।

ग्रामवधुओं के प्रश्न को सुनकर सीता का संकोच करना और मुस्कराने में 'राम' का पति होना व्यंग्य है। अतः यहाँ पर वस्तु से वस्तु ध्वनि है। वस्तु से अलंकार ध्वनि।

"लिख पढ़ पद पायो बड़ो, भयो भोग लवलीन
जगत स बाढ़्यो तो कहाँ, जो न देस-रति कीन।"

यहाँ पर 'पद पाना' वस्तु रूप वाच्यार्थ द्वारा देशभक्ति के बिना ये सब उन्नतियाँ व्यर्थ हैं, यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है अतः यहाँ वस्तु रूप से विनोक्ति अलंकार व्यंग्य है। अलंकार से वस्तु व्यंग्य

"झर पड़ता जीवन डाली से मैं पतझड़ का-सा जीर्ण पात।
केवल-केवल जग-आंगन में लाने फिर से मधु का प्रभात।।"

यहाँ उपमा और रूपक अलंकार द्वारा यह वस्तु व्यंग्य निकलता है कि मरण नवजीवन लाता है क्योंकि पुनर्जन्म निश्चित है। अतः यहाँ अलंकार से वस्तु व्यंग्य है। अलंकार से अलंकार ध्वनि

munotes.in

"दमकत दरपन दरप दरि दीप-सिखा-दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि, सनेह ॥"

यहाँ दीप सिखादुति में उपमालंकार है और बाद में व्यतिरेकालंकार है क्योंकि द्युति को दीपशिखा के उपमान से न बांधा जाता तो दर्पण में इसमें विशेषता न आती और न ही व्यतिरेक को प्रश्रय मिलता।

१) स्वतः संभवी २) कवि प्रौढ़ोक्ति : जो वस्तु केवल कवियों की कल्पना मात्र से ही सिद्ध होती है, व्यावहारिक रूप से उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि न हो जैसे- कलंक का रंग काला मानना, विरह में जलना, धन का काला होना। ३) कविनिबद्धमान पात्र प्रौढोक्ति सिद्ध जहाँ कवि के निबद्धमान पात्र की प्रौढ़ (कल्पित) उक्ति द्वारा किसी वस्तु या अलंकार का व्यंग्य बोध होता है। यथा

"धूम धुआंरे काजर कारे हम ही बिकरारे बादर।
बदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणधर ॥"

यहाँ बादल को पावस के उड़ते फणधर तथा मदनराज के वीर बहादुर आदि वाच्य कवि निबद्धमान पात्र प्रौढोक्ति है, बादलों का अपने को कामोद्दीपक, विरहणी के संतापकारक कहना, वस्तु रूप व्यंग्य का बोध कराता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि या रस ध्वनि

जहाँ पर वाच्यार्थ ग्रहण करने का क्रम लक्षित नहीं होता कि यह वाच्यार्थ है और उसके बाद यह व्यंग्यार्थ है वहाँ यह ध्वनि होती है। आचार्य आनंदवर्धन ने इसे शतपत्रसूचीभेद से समझाया है कि जिस प्रकार कमल में यह निश्चित करना अनिश्चित है कि कौन सा पत्र सूचिका द्वारा कब बिद्ध हुआ, जबकि बिद्ध होना अनिवार्यता है। उसी प्रकार किसी रचना को पढ़कर विभावनुभावसंचारी के संयोग से पाठक के मन में कब रस उत्पन्न हुआ यह कहना कठिन है, किन्तु रस निष्पत्ति हुई यह वास्तविकता है। अर्थात् रस की प्रतीति में क्रम जरूरी है किन्तु यह लक्षित करना की कब हुई रसनिष्पत्ति यह असंभव है।

अवर काव्य : चित्र काव्य : ध्वनिकार के मत में यह तीसरे प्रकार का काव्य है जिसमें व्यंग्यार्थ नहीं रहता। केवल अलंकार, शब्द योजना आदि का सौंदर्य देखा जाता है। ध्वनि की दृष्टि में इस काव्य का सबसे कम महत्व है।

ध्वनि काव्य की आत्मा -

ध्वनि सिद्धांतकार आचार्य आनंदवर्धन ने जहाँ काव्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से अधिक रमणीय और चमत्कार पूर्ण अर्थ व्यंजित हो, वहाँ ध्वनि की सत्ता मानी है। जिस प्रकार किसी सुंदरी के अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य से भिन्न लावण्य की पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ से भिन्न कुछ चमत्कारपूर्ण अर्थ होता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है। अलंकारिकों ने माना है कि काव्य में अकथित और प्रतीयमान अर्थ ही मूल वस्तु है। इसका बोध अभिधा और लक्षणा से नहीं हो पाता है। व्यंजना शक्ति ही काव्य के गूढार्थ का बोध करा सकती है। ध्वनि सिद्धांत की स्थापना के साथ भारतीय काव्य, चिंतन की सूक्ष्मतम स्थित तक पहुँच गया है।

munotes.in

२.४ ध्वनि के भेद

व्यंजना व्यापार से प्राप्त अर्थ ही ध्वनि है। स्थूल रूप से ध्वनि के दो भेद हैं-

१) अभिधामूला ध्वनि

२) लक्षणामूला ध्वनि

१) अभिधामूला ध्वनि-

जहाँ सीधे वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से ही ध्वनित हो जाता है,वहाँ अभिधामूला ध्वनि होती है। अभिव्यक्ति भेद से अभिधामूला ध्वनि के दो उपवर्ग हैं-

१) संलक्ष्यक्रमध्वनि २) असंलक्ष्यक्रमध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ के स्पष्ट बोध के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीती हो, वहाँ संलक्ष्यक्रमध्वनि होती है और जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ साथ-साथ ध्वनित हों वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है।

२) लक्षणामूला ध्वनि-

जहाँ व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आधारित होता है, वहीं लक्षणामूला ध्वनि होती है। लक्षणामूला ध्वनि के भी दो भेद है-

१) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि

२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि में वाच्य थोड़ा-सा ही उपेक्षित होता है,जबकि अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि में वाच्यार्थ पूर्ण रूप से उपेक्षित होता है। यह लक्षणलक्षणा पर आधारित है।

२.५ ध्वनि सिध्दांत का महत्व

ध्वनि सिद्धांत काव्यशास्त्र का बड़ा विशद सिद्धांत है। इसीलिए कहा जाता है कि ध्वनि एक पूर्ण सिद्धांत है क्योंकि इसमें रस तथा अलंकार का तो समावेश है ही साथ ही इसके अंतर्गत अन्य काव्य सिद्धांतों के तत्व भी समाहित हैं। हिंदी काव्यशास्त्र में इस सिद्धांत को बराबर मान्यता मिलती रही है। यद्यपि रीतिकालीन आचार्यों का एक बड़ा समुदाय पूर्ववर्ती रस और अलंकार सिद्धांतों से प्रभावित रहा है तथापि इस काल के अनेक आचार्यों ने ध्वनि सिद्धांत के प्रति उदारता बरती है। आधुनिक काल में भी हिंदी में ध्वनि विवेचन की दिशा में तीन आचार्यों के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य रामदहिन मिश्र और डॉ. नगेंद्र। शुक्ल जी वाच्यार्थ में ही चमत्कार मानते हैं तथा वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के रस प्रणव होने पर उन्हें काव्य की परिधि में ग्रहण करते हैं। मिश्रजी ने प्राचीन पद्धति पर ध्वनि का विवेचन किया है और डॉक्टर नगेंद्र ने रस तथा

ध्वनि सिद्धांतों में समन्वय स्थापित किया है। आधुनिक काल में नए साहित्य के परिप्रेक्ष्य में ध्वनि को विशेष मान्यता मिली है। व्यंग्य की विधाओं का पृथक विकास इस बात का ठोस प्रमाण है। इसीलिए आधुनिक साहित्य चिंतकों ने ध्वनि की अनिवार्यता को सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है। इसी विकास क्रम में ध्वनि सिद्धांत निरंतर पुष्ट होता गया है। रस और अलंकार आज भी ध्वनि सिद्धांत के आधार स्तंभ है। संभवतः इसलिए रसध्वनि और अलंकारध्वनि कल्पित की गई। डॉ.नगेंद्र के अनुसार ध्वनि सिद्धांत की सर्वमान्यता का मुख्य कारण यह है कि अन्य सभी प्रचलित सिद्धांतों का समावेश ध्वनि में हो जाता है। इस सिद्धांत की महत्ता इस बात में देखी जा सकती कि इसके बाद प्रतिपादित होनेवाले वक्रोक्ति एवं औचित्य सिध्दांत भी काव्य लक्षणा की परिधि से बाहर न जा सके और न कोई परवर्ती आचार्य के मूल स्वरूप को विकृत ही कर सका। इस प्रकार निश्चित रूप से ध्वनि सिद्धांत एक पूर्ण सिद्धांत कहा जा सकता है। जिसमें रस तथा अलंकार का तो समावेश हो ही जाता है,अन्य काव्य सिद्धांत भी तात्विक रूप से समाहित हो जाते हैं।

२.६ सारांश

आनंदवर्धन ने अलंकार रीति और रस के स्थान पर ध्वनि तत्व को अधिक महत्व दिया। उनके अनुसार ध्वनि काव्य का आंतरिक तत्व तो है ही,अनिवार्य तथा व्यापक तत्व भी है। इसलिए इसे उन्होंने काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनि सिद्धांत एक सार्वजनीन सिद्धांत है और काव्य के मूल तत्व को अधिक सफलतापूर्वक आत्मसात किए है। इसमें कविता का लक्ष्य अर्थ बोध मात्र नहीं है, किंतु परिशीलक में संवेदना जगाना और उनके हृदय का विस्तार कर उसे विश्व हृदय में मिला देना भी है। ध्वनि सिद्धांत की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसने अपने अंतर्गत रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि समस्त काव्य सिद्धांतों के मूल तत्वों का समावेश कर लिया, इसके साथ ही इसका प्रतिपादन भी विस्तार के साथ हुआ है। खंडन मंडन द्वारा यह अति पुष्ट होकर एक सर्वमान्य काव्य सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इसके असंख्य भेद-प्रभेद हैं और यह काव्य की व्यापक से व्यापक और सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं को अपने में समेट लेता है।

२.७ दीर्घोत्तरी प्रश्न

१) ध्वनि की परिभाषा देकर अवधारणा एवं स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

२) शब्दशक्ति की चर्चा कीजिए।

३) ध्वनि के भेद स्पष्ट कीजिए।

४) ध्वनि के अर्थ एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

munotes.in

२.८ लघुत्तरीय प्रश्न १३.९

१. ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक है?

२. ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ होता है?

३. लक्षणा- मूला ध्वनि के कितने भेद होते है ?

४. ध्वनि के कितने भेद होते है?

५. . ध्वनि सिद्धांत के समर्थक आचार्यों के नाम लिखिए?

२.९ संदर्भ पुस्तकें

१) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान -प्रो. हरिमोहन

२) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिध्दांत- गणपतिचंद्र गुप्त

३) भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास- भगीरथ मिश्र

४) भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा- डॉ. नगेन्द्र

५) भारतीय काव्यशास्त्र- निशा अग्रवाल

६) औचित्य के कितने पक्ष होते है ?

७) पाश्चात्य काव्य शास्त्र के किस विचारक में औचित्य पर चर्चा की है ?

******

munotes.in

इकाई : १

३

औचित्य सिध्दांत

इकाई की रुपरेखा

३.० उद्देश्य

३.१ प्रस्तावना

३.२ औचित्य की पूर्व-परम्परा

३.३ औचित्य सिध्दांत की अवधारणा

३.४ औचित्य का प्रयोजन

३.५ औचित्य के भेद

३.६ औचित्य विवेचन

३.७ पाश्चात्य काव्यशास्त्र और औचित्य

३.८ सारांश

३.९ दीर्घोत्तरी प्रश्न

३.१० संदर्भ पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

- औचित्य के अर्थ तथा स्वरूप को समझ सकेंगे ।
- औचित्य के प्रयोजन को समझ सकेंगे ।
- औचित्य के भेदों से परिचित हो सकेंगे, औचित्य की समस्याओं को समझ सकेंगे।
- पाश्चात्य चिंतन के संदर्भ में औचित्य संबंधी विवेचन से परिचित होंगे।

३.१ प्रस्तावना

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ तक भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पाँच प्रमुख सिध्दांत-रस,अलंकार,रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति प्रतिष्ठित हो चुके थे किंतु फिर भी काव्य के आधारभूत तत्व के संबंध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका। इतना ही नहीं,अनेक सिध्दांतों की स्थापना के कारण 'काव्य की आत्मा' संबंधी विवाद सुलझाने के स्थान पर और अधिक उलझ गया था। रस, अलंकार,रीति आदि प्रत्येक सिद्धांत अपने- अपने मत को प्रमुखता देते थे और दूसरे के मत को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी स्थिति में काव्य के सामान्य अध्येता के सामने यह समस्या थी कि वह किस मत को माने और किसको नहीं। ठीक इसी समय आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य सिद्धांत

munotes.in

की स्थापना करके इस विवाद को सुलझाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस,गुण, अलंकार आदि सभी का महत्व है,किंतु उसी अवस्था में जबकि ये सब औचित्य से समन्वित हो। औचित्य के अभाव में यह सभी तत्व व्यर्थ है। इस प्रकार औचित्य सिद्धांत इन सब के लिए उचित समन्वय का संदेश लेकर उपस्थित हुआ।

३.२ औचित्य की पूर्व-परम्परा

औचित्य को एक पृथक सिद्धांत के रूप में स्थापना करने का श्रेय आचार्य क्षेमेंद्र को ही है, किंतु उनसे पूर्व भी।अनेक आचार्य इसकी चर्चा सामान्य रूप से कर चुके थे। भरत ने नाट्यशास्त्र में औचित्य का आधार लोक की रूचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए लिखा-जो लोक सिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोक स्वभाव से हुआ है। अत: नाट्य प्रयोग में लोक ही प्रमाण है। आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि जैसा पात्र हो,उसी के अनुरूप भाषा,वेश, चरित्र आदि होने चाहिए। वय के अनुरूप वेश होना चाहिए,वेश के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य,तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए। इस प्रकार आचार्य भरत ने स्वाभाविकता के रूप में औचित्य का प्रतिपादन किया है। इतना अवश्य है कि उन्हें 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया।
आगे चलकर दंडी ने संकेत किया कि काव्य में औचित्य का स्थान है । वस्तुतः भामह,दंडी,वामन,रूद्रट आदि का दोष- विवेचन एक प्रकार से औचित्य की ही व्याख्या है,किंतु औचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या करनेवाले आचार्यों में सर्वप्रथम आनंदवर्धन आते हैं। उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके छह प्रकार निश्चित किए- रस औचित्य, अलंकार औचित्य, गुण औचित्य, संघटन औचित्य, प्रबंध औचित्य, रीति औचित्य । आनंदवर्धन ने औचित्य का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया था। उनके बाद कुंतक एवं महिम भट्ट ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रंथ में किया। इस प्रकार औचित्य की परंपरा चली आ रही थी कि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार' लिखकर उसे काव्य का प्राण घोषित किया और साथ ही उसे अत्यंत व्यापक रूप प्रदान किया।

३.३ औचित्य सिध्दांत की अवधारणा

आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया है कि यदि कोई अपने गले में मेखला पहन लें, हाथों में बिछुए बांध ले, पैरों में केयूर बाँध लें, इस औचित्य पर कौन नहीं हँस देगा। अतः औचित्य के बिना न तो कोई समझ ही अच्छी लगती है और न गुण ही। औचित्य काव्य का अन्तरंग तत्व है। इसके बिना अन्य कोई गुण या विशेषता महत्वहीन हो जाती है। क्षेमेन्द्र के अनुसार 'औचित्य ही काव्य की आत्मा है।' क्षेमेन्द्र ने किसी एक तत्व को महत्व न देकर सभी तत्वों के काव्यशास्त्र में औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई । क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट किया कि केवल अलंकार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायता तो देता ही नहीं, अपितु उसे ठेस भी पहुँचा सकता है।

यदि हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक की संस्कृत रचनाओं को देखें तो ज्ञात होता है कि इस युग का साहित्य किस प्रकार कृत्रिम अलंकार-योजना से आच्छादित होकर सौन्दर्यविहीन, शुष्क एवं जटिल हो गया था । औचित्यवाद ने इसका घोर बहिष्कार करके परवर्ती युग की काव्य रचनाओं को भले ही वे संस्कृत भाषा की न होकर अन्य भाषा की हो- नया दृष्टिकोण प्रदान किया। क्षेमेन्द्र का औचित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण आज भी संदर्भवान है । आधुनिक युग का साहित्यकार साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त कर देने में उसकी स्वाभाविकता मानता है वहाँ क्षेमेन्द्र आवश्यक नियमों का पालन करते हुए यथार्थ चित्रण में स्वाभाविकता मानते हैं । उस युग का पाठक या सामाजिक प्राचीन नियमों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, अतः उनका पालन उस युग के साहित्यकार के लिए अपेक्षित था, जबकि आज का दृष्टिकोण बदल गया है।

औचित्य से काव्य के मूल सौन्दर्य की रक्षा होती है, उसके अभाव में सौन्दर्य-सौन्दर्य नही रहता कुरूपता में परिणत हो सकता है किन्तु वह मूल सौन्दर्य का स्थापन्न नहीं बन सकता। अतःयह काव्य की आत्मा के पद पर आसीन नहीं हो सकता। औचित्य में अपने-आप में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सकें। यह सत्य है कि कई बार औचित्य या स्वाभाविकता के कारण कोई उक्ति सुन्दर बन जाती है, किन्तु वहाँ पर औचित्य के साथ अन्य तत्व भी सम्मिलित होते हैं। भावना शून्य होने पर एक स्वाभाविक वर्णन ही होते हैं। भावना शून्य होने पर एक स्वाभाविक वर्णन भी दंडी द्वारा कथित 'वार्ता' मात्र रह जाएगा, उसे काव्य की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकेगी। अतः औचित्य वह तत्व है जो कविता- कामिनी के मुख चंद्र को निखारकर निष्कलंक तो बनाता है, किन्तु उसे ज्योत्स्ना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है। बिहारी के शब्दों में–
'वह चितवनि औरे कछू जिहि बस होत सुजान'।

भारतीय काव्य में औचित्य का विशिष्ट योग है। अनुचित अलंकार प्रयोग, अनुचित रीति, अनुचित उक्ति, अनुचित अर्थ तथा रस में अनुचित वर्णन- इन सबका सौष्ठव नष्ट कर देते है। अतः इन सभी सिद्धान्तों में औचित्य का समावेश आवश्यक है । औचित्य के अभाव में यह सभी व्यर्थ है, अतः औचित्य सम्प्रदाय उचित समन्वय का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ । आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस अतिसूक्ष्म तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया अतः औचित्य काव्य का अन्तरंग तत्व है। इसके बिना अन्य कोई गुण या विशेषता महत्वहीन हो जाती है । इसी औचित्य तत्व की अवहेलना करने पर केशवदास की 'रामचन्द्रिका' के प्रकृति वर्णन पर तीखी आलोचना की गई तथा केशव को हृदयहीन कवि कहा गया। साथ ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा कि जो जिसके योग्य हो, आचार्य लोग जिसे उचित कहते हैं साथ ही जिसका भाव भी उचित हो, वह औचित्य के अन्तर्गत आता है।

डॉ. मनोहर गौड़ ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा- 'काव्य में भी संयोजन क्रिया की प्रमुखता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है। जीवन में अनेकत्र, अनेकदा दृष्ट एवं अनुभूत पदार्थों का किसी भाव या कथा के सहारे सामंजस्य संयोजन किया जाता है, इसी सामंजस्य को सादृश्य अथवा संतुलन को ही औचित्य कहा जाता है। यह सापेक्ष वस्तु है। नीम का चारा गाय के लिए असदृश और ऊँट के लिए सदृश है। अधिक आभूषणों का उपयोग ग्रामीण स्त्री के लिए उचित एवं नगर की स्त्री के लिए

अनुचित है। इस प्रकार औचित्य एक विधेयात्मक तत्व सिद्ध होता है। यही समस्त सौन्दर्य का मूल है। ' काव्य में घटनाओं और पात्रों के संयोजन में स्वाभाविकता होने पर ही वह प्रेषणीय हो पाता है। अतः 'स्वाभाविकता' ही औचित्य है।

भारतीय काव्यशास्त्र की यह मान्यता सामान्यतः स्वीकार कर ली गई है कि काव्य का पाठ करने तथा उसे बोधगमय रूप में स्वीकार करने के लिए पाठक को सहृदय होना चाहिए। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि बिना परिचय के प्रेम कहाँ? इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि यदि पाठक में ग्रहीता का भाव नहीं होगा तब वह काव्यास्वाद भी नहीं कर सकेगा और रचनाकार से तादात्म्य भी स्थापित नहीं कर सकेगा। इस अर्थ में रचनाकार, रचना तथा पाठक के बीच एक तादात्म्य होना आवश्यक है, तब यह स्पष्ट है कि पाठक के सहृदय होने पर ही रचना से उसका सरोकार बनेगा और तभी रचना की मूल प्रवृत्ति की पहचान संभव हो सकेगी। अब प्रश्न यह उठता है कि सहृदय की अवधारणा मूलतः रस सिद्धांत तथा उससे संबंधित साधारणीकरण की अवधारणा से संबंधित है तब फिर औचित्य सिद्धांत के विवेचन के संदर्भ में सहृदय की अवधारणा की चर्चा किस रूप में और क्यों होनी चाहिए? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह होगा कि औचित्य मूलतः तर्कजन्य कारण से संबंधित है। इसी अर्थ में औचित्य को सृजन के साथ जोड़कर देखा जाता है और यही औचित्य विवेचन वास्तव में औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेंद्र को इस बात के लिए विवश करता है कि वे औचित्य के एक भेद के रूप में रसौचित्य का भी वर्णन करते हैं। औचित्य को अंगी तथा रस को अंग मानकर वे रस की महत्ता को रेखांकित करने के साथ-साथ औचित्य को मूल और वास्तविक प्रयोजन के रूप में स्थापित करते हैं। जैसा कि आप जानते हैं कि साहित्य में सबसे पहले रचना के आधार पर ही पाठक तथा आलोचक के मत को निर्धारण होता है इस दृष्टि से सृजन, ग्रहण तथा आलोचना। इस क्रम में रचना को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। रस को औचित्य के साथ जोड़कर देखने पर औचित्य सिद्धांत की स्वीकार्यता और महत्ता अधिक बढ़ जाती है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेंद्र जहाँ औचित्य को अंगी तथा रस को उसका आंग मानते हैं वहीं अभिनवगुप्त औचित्य को रस का साधक मानते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में रस अंगी है- वही प्रमुख है, औचित्य तो बस उसका एक साधन है। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सहृदय की अवधारणा औचित्य से निरपेक्ष नहीं है, यही बात औचित्य के संदर्भ में कही जा सकती है। इस प्रकार से जुड़ी सहृदय की अवधारणा का विवेचन आवश्यक है।

३.४ औचित्य का प्रयोजन

औचित्य के बिना कोई भी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त अधुरा है। औचित्य के बिना न तो कोई समझ ही अच्छी लगती है और न गुण ही। काव्य में किसी एक तत्व का महत्व नहीं होता है बल्कि सभी तत्वों के संतुलन, सामंजस्य और संगति में उचित भाव का होना आवश्यक है। यह उचित भाव कैसे, कहाँ और किस प्रकार होता है,यही औचित्य सिद्धांत बताता है। औचित्य द्वारा जीवन किस प्रकार सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण बनता है- यह व्यंजित होता है। काव्य को सामाजिक मर्यादा, जीवन मूल्य के

संदर्भ में देखने की दृष्टि औचित्य द्वारा ही होती है। औचित्य ही काव्य के मूल सौन्दर्य का रक्षक है। औचित्य के अभाव में सौन्दर्य-सौन्दर्य नहीं रहता। काव्य में रस, गुण, अलंकार सभी का, उसी अवस्था में महत्व है जब ये सभी औचित्य के साथ हो। अतः काव्य को पढ़ने व समझने के लिए औचित्य सिद्धांत का ज्ञान आवश्यक है। काव्य में घटनाओं एवं पात्रों के आयोजन में स्वाभाविकता होने पर ही वह प्रेषणीय होता है। अतः उस स्वाभाविकता को जानना ही औचित्य सिद्धांत का उद्देश्य है।

३.५ औचित्य के भेद

आचार्य क्षेमेन्द्र के विचार से औचित्य बहुत व्यापक है। अत: उन्होंने काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखते हुए औचित्य पर प्रकाश डाला है, उनका कथन है -औचित्य की व्याप्ति पद से लेकर विचार तक है। क्षेमेन्द्र के मत में औचित्य के भेद हैं-
पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा,अवस्था,विचार, नाम,, आशीर्वाद,, काव्य के अन्य विविध अंग। इन अट्ठाईस तत्वों को सुगमता की दृष्टि से निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- १)शब्द- पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण , उपसर्ग, निपात। २) काव्यशास्त्रीय तत्व- प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सार संग्रह, तत्व, आशीष, काव्य के अन्य अंग। ३) चरित्र सम्बन्धी- व्रत, तत्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार नाम। ४) परिस्थिति सम्बन्धी- काल, देश, कुल, अवस्था। उपर्युक्त अंगों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की विषयवस्तु और उसकी शैली–दोनों में ही औचित्य का विधान किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को सम्यक रूप से समझने के लिए उनके द्वारा विवेचित औचित्य के कुछ उदाहरणों को जानते हैं। पदगत औचित्य की विवेचना करते हुए उनका मानना है- 'सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है जैसे चंद्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक । 'जहाँ किसी पद के प्रयोग में विशेष औचित्य प्रगट होता है यथा-'हे देव ! युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुओं के कुल डूब गए। ' इस प्रकार की प्रशंसा सुनकर भोली गुर्जर नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है। यहाँ 'भोली' शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कहीं-कहीं अनुचित शब्द के प्रयोग से काव्य-सौन्दर्य को क्षति पहुँचती है उदाहरणार्थ 'सौन्दर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया, महान क्लेश उठाया, स्वच्छंद और सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता के ज्वर से पीड़ित किया। 'विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था। '
यहाँ आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि यहाँ 'तन्वी' शब्द किसी प्रकार के अधौचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता। उनके विचार से यहाँ 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग उचित था।

वाक्यगत औचित्य: जहाँ वाक्य के प्रयोग द्वारा विशेष चमत्कार प्रकट होता है वहाँ वाक्यगत औचित्य है। उदाहरणार्थ -

"छीमियां दाना-रहित-सा साल पिछला दुबक गुजरा और सूखे सन्तरे सा, यह नया आया है पास।"

प्रबन्धगत औचित्य : किसी बात को सिद्ध करने के लिए किसी कथा-प्रबन्ध में बांधने के कारण विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रबन्धगत औचित्य होता. है। यथा -

"प्रातधूप की जरतारी ओढ़नी लपेटे अभी-अभी
जागी खुमार से भरी नितान्त कुमारी घाटी। "

अलंकार औचित्य : जहाँ अलंकार के प्रयोग द्वारा कोई वस्तु, भाव या विशेष रूप से प्रभावशील हो उठता है वहाँ अलंकार औचित्य होता है अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप ही अलंकार का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरणार्थ-

"सांझ के सेंदुर लिए आकाश में सरक आया क्षुधित बादल-व्याल।"

यहाँ रूपक अलंकार का चमत्कार उपरोक्त पंक्तियों में देखा जा सकता है।

रसौचित्य: औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। अर्थात् रस के प्रयोग से काव्य की पंक्तियाँ जब विशेष रूप से प्रभावशाली हो जाती हैं तो रसौचित्य होता है। उदाहरणार्थ -

"दाने-दाने को तरस गयीं अगणित आँखें कृमि कीट सदृश फूटपाथों पर
मनु की प्यारी संतान मिट गयी बिलख-बिलख।"

करूण रस के चमत्कार से युक्त प्रस्तुत पंक्तियाँ हैं। मधुर, तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार श्रृंगार आदि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक विलक्षण रसानुभूति होती है। रसौचित्य के लिए ध्वनि सिद्धांतकार आनन्दवर्धन ने मुख्यतः दस नियम निर्धारित किए हैं

१) शब्द और अर्थ का नियोजन औचित्यपूर्ण हो।
२) प्रबन्ध में सन्धि, घटना का प्रयोग रसानुकूल हो।
३) व्याकरण की दृष्टि से प्रयोग शुद्ध हो।
४) विरोधी रस के अंगों का वर्णन न हो।
५) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तार न हो कि उसका मुख्य रस ही दब जाए।
६) अंगरस और अंगीरस का सम्बन्ध आपस में ठीक अनुपात में हो।
७) अन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता हो।
८) प्रबन्ध काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर हो।
९) विभाव,अनुभाव, संचारी आदि के वर्णन में औचित्य की रक्षा की जाए।
१०) काव्य में रस के विभिन्न अवयवों तथा विरोधी रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तभी रस निष्पति हो सकेगी। देशकालगत औचित्य : जहाँ देश और काल के वर्णन से विषय में विशेष चमत्कार आ जाता हो, वहाँ देशकालगत औचित्य होता है।

"काले जंगल काले खेत, काली मिट्टी सांवरी
लुगड़ा छापेदार लाल, हंसली की चमके बीजरी
लहंगा स्याह कमर में पहिने, श्याम बरन की गूजरी ।"

गुणौचित्य : काव्य में विभिन्न गुणों का समन्वय रस के अनुकूल होना चाहिए। जैसे ओज का वीर रस में, माधुर्य का श्रृंगार और करूण में।

संघटनौचित्य : संघटना या रचना का उद्देश्य रस है। अतः उसमें विभिन्न तत्वों का नियोजन रस के अनुकूल होना चाहिए । इसके चार नियामक है १) संघटना रसानुकूल हो । २) पात्र की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के अनुसार इसकी योजना हो । ३) प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल हो । ४) काव्य की प्रकृति के अनुकूल हो।

बिम्बगत औचित्य : जहाँ बिम्बों के संयोजन से उनके औचित्य द्वारा काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है, वहाँ बिम्ब औचित्य माना जाता है यथा -

"नरवत-वेणी में रहे उलझे जुही के फूल।
बहाये कुछ लहरियों के साथ दूर अकूल ॥"

विचारगत औचित्य : जहाँ किसी विचार के कारण काव्य में विशेष चमत्कार आता है वहाँ विचारगत औचित्य होता है। रीति औचित्य : 'रीति का प्रयोग भी उचित रूप से अर्थात् वक्ता, रस अलंकार तथा काव्य के स्वरूप के अनुकूल होना चाहिए।

आनंदवर्धन ने औचित्य के मुख्यतः छ: प्रकार बताए हैं जिनमें- रस औचित्य , अलंकारौचित्य, गुणाचित्य, संघटनौचित्य, प्रबंधौचित्य तथा रीति औचित्य है । कुन्तक एवं महिम भट्ट ने भी इसका वर्णन किया है । कुन्तक के अनुसार औचित्य वह है "जिसके द्वारा स्वभाव का महत्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वक्ता या श्रोता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो। वह औचित्य है।'

औचित्य के ये प्रमुख भेद आज के समय में आधुनिक काव्य के सन्दर्भ में अधिक उपयोगी है। काव्य की चाहे कोई भी विधा हो, काव्य की कोई भी विशेषता या गुण हो, उसके संपादन में, तथा उसे प्रभावी बनाने में औचित्य का निर्वाह बहुत आवश्यक है। इसीलिए पाश्चात्य आचार्यों ने भी औचित्य के महत्व को स्वीकारा है। अरस्तू ने दृश्य, घटना, काल, भाषा में औचित्य को महत्वपूर्ण माना है। लोंजाइनस ने शब्द प्रयोग के औचित्य को काव्य का प्राण कहा है। होरेस, दान्ते, पोप, रिचर्ड्स मैथ्यू आर्नल्ड सभी ने काव्य में औचित्य को अपने-अपने ढंग से स्वीकारा है।

३.६ औचित्य विवेचन

औचित्य जीवन के विभिन्न आयामों पर एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है । किसी भी कार्य के औचित्य के बिना उस कार्य को करना अनुचित कहा जाता है। यही औचित्य काव्यसृजन, साहित्य विमर्श तथा लोकजीवन के साथ-साथ साहित्य की प्रासंगिकता आदि विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण विषय बन जाता है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, आचार्य क्षेमेंद्र के औचित्य विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत

munotes.in

करते हैं, "पर परोपकारी शब्दार्थमय काव्य में अलंकार बाह्य शोभाकारी होने से कट आदि की भांति अंततः अलंकार ही है और गुण भी श्रुत, सत्य, शील आदि की तरह अर्जित हैं, सहज नहीं, अतः वे भी गुण ही है। पर जहाँ तक औचित्य का संबंध है, वह काव्य का स्थिर और अविनश्वर जीवित है जिसके बिना काव्य निर्जीव है। " आचार्य क्षेमेंद्र का यह कथन निर्विवाद रूप से स्वीकार्य नहीं है, इसे सहज और स्वाभाविक रूप से ग्राह्य नहीं कहा जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि औचित्य पूर्ण। काव्य का जीवित है, गुण तथा अलंकार पूर्ण नहीं। यह मान्यता स्वीकार करने पर रीति और अलंकार का महत्व तो कम हो ही जाता है अपितु साधन को साध्य मानने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता है। अलंकार एवं रीति को भी काव्यात्मा मानना औचित्यपूर्ण नहीं होगा। 'औचित्य रस सिद्ध काव्य का जीवित है- यह मानने वाले आचार्य क्षेमेंद्र रस को विरोधी तो नहीं माने जा सकते किंतु यह प्रश्न तो उठता ही है कि यदि औचित्य जीवित है तो फिर रस की स्थिति क्या है? क्या रस को जीवित नहीं माना जा सकता?

यही नहीं आचार्य क्षेमेंद्र वक्रोक्ति एवं ध्वनि के विषय में औचित्य चिंतन में अपना स्पष्ट मत नहीं व्यक्त करते, तब क्या यह मान लिया जाए कि क्षेमेंद्र का मत औचित्य चिंतन को रस के साथ जोड़कर ही देखने के लिए उपयुक्त है। स्पष्ट रूप से यह देखा जा सकता है कि रस पर अधिक बल देना तथा रस की निर्मिति के साथ औचित्य की संबंध स्थापना वास्तव में इस बात पर ही केंद्रित है कि यदि रसौचित्य स्थापित हो जाता है तब फिर ध्वनि तथा वक्रोक्ति के साथ औचित्य की सहधर्मिता स्थापित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। औचित्य वास्तव में तर्क पद्धति से जुड़ा हुआ मामला है। औचित्य काव्यालोचन के लिए अत्यंत विचारणीय चिंतन-बिंदु है। जिस प्रकार काव्यात्मा का प्रश्न साहित्य सृजन से जुड़ा हुआ है और रस को ही कविता या काव्य की मूल सत्ता अथवा मूल तत्व मानना उपयुक्त माना जाता है, उसे ग्रहणशीलता के स्तर पर ग्राहक या भावक (पाठक) को ग्राह्य बनाने के लिए उसे सहृदय होना उपयुक्त माना जा सकता है। उसी प्रकार काव्यालोचन के प्रसंग में औचित्य के महत्व को स्वीकार कर लेना ही उपयुक्त कहा जा सकता है।

३.७ पाश्चात्य काव्यशास्त्र और औचित्य

औचित्य जीवन के विभिन्न पक्षों में महत्वपूर्ण तत्व तो है ही साहित्यिक मूल्यांकन के लिए भी अत्यंत विचारणीय है। अब यह समझना उपयोगी होगा कि पाश्चात्य साहित्य चिंतन में औचित्य को किस रूप में देखा-समझा गया है या यों कहें कि भारतीय औचित्य सिद्धांत से मिलता जुलता क्या पश्चिम में भी कोई सिद्धांत है या पश्चिमी साहित्य चिंतकों ने औचित्य सिद्धांत जैसा कोई मत प्रस्तुत किया है?

औचित्य के दो पक्ष होते हैं- विषयगत औचित्य तथा पद्धतिगत औचित्य विषयगत औचित्य में जहाँ वर्ण्य विषय या अन्तर्वस्तु के सन्दर्भ में औचित्य का निर्धारण किया जाता है वहीं पद्धतिगत औचित्य में रचना में प्रयुक्त शिल्प विधान या शैली और भाषिक संरचना के औचित्य का विवेचन किया जाता है। इस दृष्टि से देखें तो आई. ए. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत तथा संप्रेषण सिद्धांत दोनों में ही औचित्य की चर्चा की गई है। जब रिचर्ड्स यह कहते हैं कि कविता का मूल्य इस बात में है कि वह मानसिक

चिकित्सा करती है तब वे काव्य के औचित्य को ही रेखांकित कर रहे होते हैं। इसी प्रकार जब वे संप्रेषण के माध्यम की बात करते हैं तब वास्तव में पद्धतिपरक औचित्य की ही चर्चा करते हैं। इसी प्रकार काव्यभाषा के संदर्भ में जब वे भाषा के रागात्मक प्रयोग की बात करते हैं तब उनका आदाय स्पष्ट रूप से यही होता है कि कविता में भाषा के रागात्मक प्रयोग का ही औचित्य होता है। उनके ही द्वारा व्याख्यायित भाषा के वैज्ञानिक मानते है की सन्दर्भगत प्रयोग का कोई औचित्य नहीं होता। टी. एस. इलियट का वस्तुनिष्ठ सह संयोजन सिद्धांत वास्तव में पूर्णतः औचित्य विवेचन पर ही आधारित है। जब वे 'हेमलेट' में वस्तुनिष्ठ सह-संयोजन का अभाव देखकर शेक्सपीयर की नाटकीय सफलता का रेखांकण करते हैं तब पात्र तथा नाटकीय प्रस्तुतीकरण में कथा विन्यास तथा उसके घटनाक्रम के विन्यास में सुसंगति नहीं है। यह वास्तव में औचित्य विवेचन ही है। मार्क्सवादी विचारधारा रचना का महत्व इस बात में मानती है कि रचना सर्वहारा वर्ग में बूर्जुर्ग वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न करे। शोषण के विरुद्ध विद्रोह ही मार्क्सवाद का मूलमंत्र है। इसीलिए ट्राटस्की मानते थे कि कला हथौड़ा है। यथार्थ की अभिव्यक्ति मार्क्सवादी चेतना का ऐसा तत्व है जिसको रचना का मूल्यांकन करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यह औचित्य निर्धारण ही साहित्यिक मूल्यांकन का मूलाधार है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पश्चिमी चिंतन में भी औचित्य विवेचन हुआ है। यह बात अलग है कि वहाँ इसके निर्धारण एवं प्रस्तुतीकरण का तरीका भिन्न रहा है।

३.८ सारांश

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य रचना में छंद, अलंकार, रस आदि सभी तत्वों के औचित्य को स्वीकारा है। अनुचित अलंकार प्रयोग, अनुचित रीति, अनुचित रस एवं अर्थ, ये सभी काव्य के सौष्ठव को नष्ट कर देते हैं। अतः आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य मत का प्रतिपादन करने के साथ ही उसे काव्य की आत्मा भी स्वीकारा।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने माना कि रस सिद्ध काव्य की स्थिरता औचित्य तत्व पर ही निर्भर करती है अतः औचित्य ही प्राण है जब शरीर में प्राण है तभी अलंकार आदि की शोभा होगी, तभी रस का संचार हो सकता है, किन्तु प्राणों से रहित होने पर कोई भी विशेषता नहीं रह जाती है। अतः मूल तत्व औचित्य है जिससे काव्य में विविध गुणों एवं चमत्कार का विकास होता है।

यह औचित्य का सिद्धांत अत्यंत सरल और स्पष्ट है। सामान्य अनुभव के अनुसार इसे संयोजन का भाव भी कहा जा सकता है क्योंकि जब तक किसी वस्तु में उसके सब अंग उचित रूप से संयुक्त नहीं होंगे, तब तक उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। एकत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। इस एकत्व के विचार से औचित्य का सिद्धांत इसीलिए भी महत्वपूर्ण है कि इस सिद्धांत का प्रयोग तो किसी भी वस्तु के उसके अपने सब अंगों के सम्बन्धों का परीक्षण करने तथा उस वस्तु के साथ अन्य वस्तुओं के पारस्परिक परीक्षण के लिए भी किया जाता है। अतः औचित्य का प्रधान तत्व गुण है अर्थात् कवि को, प्रत्येक तत्व के उचित प्रयोग का ध्यान रखना चाहिए।

३.१० दीर्घोत्तरी प्रश्न

१) औचित्य के भेदों की चर्चा कीजिए।

२) औचित्य का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

३) औचित्य विवेचन की समस्याओं की चर्चा कीजिए।

४) सहृदय की अवधारणा एवं औचित्य विवेचन पर प्रकाश डालिए।

५) पश्चिमी चिंतन के संदर्भ में औचित्य विवेचन की चर्चा कीजिए।

३.११ संदर्भ पुस्तकें

१) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिध्दांत- गणपति चंद्रगुप्त

२)भारतीय काव्यशास्त्र, योगेन्द्र प्रताप सिंह

३)भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज, राममूर्ति त्रिपाठी

३.१२ लघुत्तरीय प्रश्न

१. औचित्य सिद्धांत की स्थापना का क्षेत्र किसे जाता है ?

२. आचार्य क्षेमेंद्र से पूर्व किस आचार्य ने औचित्य का प्रतिपादन किया

३. औचित्य को कितने भागों में विभक्त किया गया है ?

४. औचित्य में कितने तत्वों का समावेश हुआ है ?

******

munotes.in

इकाई : २

४

डॉ. रामविलास शर्मा

इकाई की रूपरेखा :

४.० इकाई का उद्देश्य
४.१ प्रस्तावना
४.२ डॉ. रामविलास शर्मा
४.३ परिचय एवं कृतित्व
४.४ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ
४.५ सारांश
४.६ लघु उत्तरीय प्रश्न
४.७ बोध प्रश्न
४.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

४.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि
'आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास की दिशा।
• आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास में डॉ. रामविलास शर्मा का योगदान।
• आधुनिक हिंदी आलोचना में किन दृष्टिकोणों का विकास हुआ।

४.१ प्रस्तावना

हिंदी आलोचकों की परंपरा में डॉ. रामविलास शर्मा का अन्यतम स्थान है। वे मार्क्सवादी परंपरा के समीक्षक माने जाते हैं। यद्यपि मार्क्सवादी आलोचना का आरंभ उनके पहले ही हो चुका था। डॉ. शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त जैसे समीक्षक इस धारा में उनके पहले ही सम्मिलित हो चुके थे परंतु अपने अवदान के कारण डॉ. रामविलास शर्मा को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

४.२ डॉ. रामविलास शर्मा

डॉ. रामविलास शर्मा आजीवन जनवादी चेतना से जुड़े रहे। यद्यपि उनके वैचारिक आग्रह बदलते रहे, जो कि स्वाभाविक भी है पर जन-आस्था पर कभी कोई फर्क नहीं आया। हिंदी समीक्षा में उन्होंने एक

munotes.in

तरफ जहाँ निराला, शमशेर, मुक्तिबोध जैसे कवियों का संतुलित मूल्यांकन किया है, वहीं दूसरी तरफ साहित्य के इतिहास पर पड़े उपनिवेशवादी प्रभावों के विरुद्ध भी कड़ा संघर्ष किया है। उन्होंने हिंदी की जातीय चेतना के उद्‌भव और विकास को स्पष्ट करते हुए उसे आकार दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भांति परंपरा के मूल्यांकन में उनकी बड़ी रुचि रही है और इस रूप में उन्होंने न केवल हिंदी साहित्य की नई-नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की बल्कि इतिहास को भी नए तरीके से व्याख्यायित किया।

४.३ परिचय एवं कृतित्व

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म १० अक्टूबर १९१२ को उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के ऊंचगांव नामक स्थान में हुआ था। उस समय यह काफी पिछड़ा हुआ इलाका था। उनके पिता फौज में नौकरी करते थे परंतु कुछ कारणों से नौकरी छूट गयी और परिस्थितियों वश सन १९१९ में वे अपने पिता के साथ झाँसी आ गए। प्रारंभिक शिक्षा झांसी में हुई और यहीं से उन पर राष्ट्रीय आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ना भी शुरू हुआ जो आगे चलकर उनके लेखन में भी देखने को मिला। उनकी प्रारंभिक शिक्षा सरस्वती पाठशाला से हुई, जबकि माध्यमिक शिक्षा मैकडोनल हाई स्कूल से हुई। यही उनके अँग्रेजी प्राध्यापक, प्रफुल्ल कुमार चटर्जी का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। बचपन से ही उन पर अपने परिवेश का जैसा प्रभाव था, उसके अनुरूप उनके भीतर एक प्रबुद्ध क्रांतिकारी का जन्म हो चुका था और प्रगतिशील दृष्टिकोण की नींव भी पड़ चुकी थी। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में बी.ए. ऑनर्स की उपाधि प्राप्त की और शेष शिक्षा यहीं से पूरी करते हुए उन्होंने १९४० में पी एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त की। सन १९३८ में उन्होंने यही अध्यापन कार्य भी आरंभ कर दिया था, परंतु कुछ वैचारिक मतभेदों के चलते सन १९४३ में उन्हें लखनऊ छोड़कर आगरा स्थानांतरित होना पड़ा. जहा बलवंत राजपूत कॉलेज में वे स्थायी प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए और शेष प्राध्यापकीय जीवन उन्होंने यहीं रहते हुए पूर्ण किया। अपने समीक्षात्मक लेखन की शुरुआत वह लखनऊ में ही कर चुके थे। उनका पहला लेख निरालाजी की कविता सन १९३४ में चांद पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, जबकि सन १९४१ में प्रेमचंद पर लिखी गई इनकी पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी।

झांसी और लखनऊ से प्राप्त विचार और संस्कार जीवन भर उनके काम आए और यह उनके लेखन में भी दिखाई देता है। लखनऊ में रहते हुए वे कवि निराला, केदारनाथ अग्रवाल, अमृतलाल नागर, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय, श्री नारायण चतुर्वेदी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', गिरिजाकुमार माथुर, सोहनलाल द्विवेदी, जगदंबा प्रसाद मिश्र हितैषी, श्रीपत राय आदि के संपर्क में आ चुके थे और साहित्य जगत की गतिविधियों से उनका व्यापक परिचय भी हो चुका था। अपने लखनऊ प्रवास के दौरान ही वे प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ चुके थे और सन १९४३ में वे कम्युनिस्ट पार्टी में सम्मिलित हो गए। सन १९४९ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के भिवंडी सम्मेलन में उन्हें इस संघ का महामंत्री बनाया गया और इस दायित्व को उन्होंने १९५३ तक निभाया प्रगतिशील लेखक संघ में

अनावश्यक राजनीतिक दखलंदाजी के प्रश्न पर उन्होंने १९५३ में इससे किनारा कर लिया। उनकी सोच और उनके विचार जिस दिशा में थे, उस दिशा में राजनीतिक प्रतिबद्धताएं भी बाचा बनने का काम कर रही थी। कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति उनकी शिकायत यह थी कि पार्टी अपनी कमजोरिया छिपाने का काम करती है और दूसरी तरफ संस्कृति-कर्म के प्रति गंभीरता नहीं दिखाती। यदयपि वामपंथ के प्रति उनकी आस्था जीवन भर बनी रही। डॉ रामविलास शर्मा का लेखन परिदृश्य अन्यन्त विशाल है। उसमें इतिहास, साहित्य, संस्कृति और भाषा के संबंध में उनकी जो चिंताएँ हैं, उन्हें स्पष्ट किया गया है। उनकी पहली समीक्षा कृति 'प्रेमचंद' सन् १९४१ में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद वे आजीवन सृजन और समीक्षा में संलग्न रहे। प्रेमचंद के अतिरिक्त उनकी अन्य कृतियाँ है भारतेंदु युग (१९४३; संशोधित रूप में भारतेंद् युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा' १९७५), निराला (१९४६), संस्कृति और साहित्य (१९४८), प्रगति और परंपरा (१९४८), प्रेमचंद और उनका युग (१९५२), भारतेंदु हरिश्चंद्र (१९५३; परिवर्धित और संशोधित 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ १९८५), प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (१९५४), भाषा, साहित्य और संस्कृति (१९५४), लोकजीवन और साहित्य (१९५५), आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना (१९५५), स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य (१९५६), मानव सभ्यता का विकास (१९५६), सन सत्तावन की राज्यक्रांति (१९५७; संशोधित एवं परिवर्धित सन् सत्तावन की राज्यक्रांति और मार्क्सवाद (१९९०), भाषा और समाज (१९६१), आस्था और सौंदर्य (१९६१), राष्ट्रभाषा की समस्या (१९६५; संशोधित एवं परिवर्धित भारत की भाषा समस्या १९७८), साहित्य स्थायी मूल्य और मूल्यांकन (१९६८), निराला की साहित्य साधना खंड १ (१९६९), निराला की साहित्य साधना -खंड २ (१९७२), निराला की साहित्य साधना खंड ३ (१९७६), भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा (१९७५), महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण (१९७७), नई कविता और अस्तित्ववाद (१९७८), भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी खंड १ (१९७९), खंड २ (१९८०), खंड ३ (१९८१), आर्य और द्रविड भाषा परिवारों का संबंध (१९७९), परंपरा का मूल्यांकन (१९८१), भाषा, युगबोध और कविता (१९८१), भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (१९८२), कथा विवेचना और गद्य शिल्प (१९८२), मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य (१९८४), भारतीय साहित्य में इतिहास की समस्याएँ (१९८६), हिंदी जाति का साहित्य (१९८६), प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल (१९८६), मार्क्स और पिछड़े हुए समाज (१९८६), स्वाधीनता संग्राम और बदलते परिप्रेक्ष्य (१९९२), भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद (१९९२), पश्चिम एशिया और ऋग्वेद (१९९४), भारतीय साहित्य की भूमिका (१९९६), भारतीय नवजागरण और यूरोप (१९९६), भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश (१९९९), गांधी, आंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ (२०००) आदि। इसके अतिरिक्त चार दिन (१९३६) नामक उपन्यास, सदियों के सोए जाग उठे (१९८८) कविता संग्रह, तीन खंडों में आत्मकथा अपनी धरती अपने लोग आदि की भी रचना की। सन १९४३ में अज्ञेय के द्वारा प्रकाशित तार सप्तक में उनकी कविताएँ भी सम्मिलित थी। इस तरह प्रारंभ में वे सृजनात्मकता की ओर भी उन्मुख थे, पर फिर पूरी तरह से खुद को समीक्षा को ही

समर्पित कर दिया। डॉ. रामालास शर्मा के द्वारा किया गया लेखन उनके व्यापक बोध को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। उनके समीक्षात्मक और सृजनात्मक सभी प्रकार के ग्रंथों की संख्या पचास से अधिक है। वे हिंदी साहित्य के ऐसे समीक्षक और लेखक रहे हैं जो लेखन में लगभग पैसठ-सत्तर वर्षों तक लगातार सक्रिय रहे हैं। उनकी चिंताएँ एक तरफ जहाँ भारतीय साहित्यिक परंपरा में अवधारणाओं को ठीक करने की तरफ रही है, वहीं दूसरी तरफ नई प्रवृत्तियों की और भी उन्होंने उतना ही ध्यान दिया है। हिंदी के इस महान आलोचक का निधन ३० मई सन २००० को हुआ। अपने संपूर्ण जीवन के लगभग तीन-चौथाई भाग को उन्होंने अपने लेखन और साहित्य साधना को समर्पित कर दिया।

४.४ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ

डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचकीय सोच उनकी इतिहास-चेतना से गहरे तक संयुक्त है। इस रूप में वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचकीय परंपरा को आगे बढ़ाने वाले आलोचक सिद्ध होते हैं। डॉ रामविलास शर्मा ने भारतीय इतिहास को निर्मित करने वाली औपनिवेशिक सोच का आरंभ से ही भीषण विरोध किया और भारतीय इतिहास के तत्वों को भारतीय परिवेश के अनुरूप ही विश्लेषित कर यह दिखाया कि किस प्रकार भारतीय ऐतिहासिक संदर्भ, यूरोपीय संदर्भो की अपेक्षा उन्नत और प्रगतिशील है। डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में व्याप्त है। उनकी इतिहास दृष्टि मार्क्सवादी है। उन्होंने आवश्यकतानुसार भारतीय इतिहास के विविध खंडों का सूक्ष्म अध्ययन किया है। अपने अध्ययन में सामाजिक यथार्थ को अत्यधिक महत्व देते हैं और द्वंद्वात्मक से विश्लेषण के आधार पर सामाजिक विकास के विवेचन की कोशिश करते हैं। उन्होंने प्रत्येक विवेच्य युग में जनवादी तत्वों की पहचान की कोशिश की है और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उसमे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्वों का विश्लेषण किया है। उनके लेखन में क्रांतिकारिता है और प्रत्येक युग का विश्लेषण करते हुए वे उसमें न केवल क्रांतिकारी तत्वों को चिन्हित करते हैं बल्कि अपने लेखन में महत्व भी देते हैं।

औपनिवेशिक सोच के विरुद्ध संघर्ष डॉ रामविलास शर्मा का इतिहास लेखन इस रूप में प्रतिक्रियावादी है कि उन्होंने भारतीय इतिहास और साहित्य के संबंध में उपनिवेशवादी सोच को चुनौती दी और गहरे तथा सूक्ष्म अध्ययन से उसके निष्क्रियों को बदल डाला और इसके लिए उन्होंने आदिम साम्यवादी समाज से लेकर पूंजीवादी विकास के विभिन्न चरणों में विकसित सांस्कृतिक संदर्भों की व्याख्या की। साथ ही सामाजिक आर्थिक सदमों को भी स्पष्ट करते हुए आगे बढ़े। इस पूरे विश्लेषण में उनकी जनवादी सोच मुख्य रूप से प्रभावी रही। है और इन विश्लेषणों के माध्यम से उन्होंने भारतीय इतिहास के विभिन्न सदर्शी को औपनिवेशिक सोच से मुक्ति भी दिला दी, जैसे आर्य-द्रविड इतिहास के संबंध में औपनिवेशिक सोच के अनुसार आर्य एक वर्चर जाति थी, जो भारत में बाहर से स्थानांतरित होकर आयी थी। इस संदर्भ में उन्होंने अपने ग्रंथ भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश में स्पष्ट किया है कि, "यह धारणा कि आर्य बाहर से आए थे अंग्रेजो द्वारा फैलाई गई थी और एक बड़ी सोची-समझी चाल थी। दरअसल, आर्यों को बाहर से आया हुआ बताने के पीछे यह प्रेरणा काम कर रही थी कि अंग्रेज

एशिया पर राज करते हैं, इसलिए सभ्य होने का हक इन्हें ही मिला हुआ है भला इनके पूर्वज शासित भारत का प्राणी कैसे हो सकते थे? दुर्भाग्य यह है कि इन कुटिल तर्कों का खंडन करने के बजाय भारत के सभी भाषा वैज्ञानिक उनके जाल में फँस गए.. आर्य आक्रमण का सिद्धांत मानने से साम्राज्यवादियों को कितने लाभ होते हैं एक तो आर्य द्रविड झगड़ा उन्होंने खड़ा कर दिया और कहा कि यहाँ जो द्रविड़ आये थे. आर्यों ने उसको नष्ट कर दिया। अब आप बदला लेते राहिए। वास्तव में डॉ. रामविलास शर्मा ने इस प्रश्न को नस्लवादी नजरिए से देखा ही नहीं और जहाँ तक वर्चस्वता का प्रश्न है, उस समय बर्बरता चारों तरफ व्याप्त थी। उन्होंने हड़प्पा और वैदिक सभ्यता के प्रश्न को सामाजिक अतः मिश्रण की दृष्टि से विश्लेषित किया। उनके अनुसार वैदिक संस्कृति श्रम संस्कृति थी और उनके रचना काल में कौशल का यथेष्ट विकास हुआ था। ऋग्वेद में जहाँ जहाँ प्रजापति, विश्वकर्मा आदि संसार के निर्माता के रूप में याद किए गए, वहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यह कारीगर का दृष्टिकोण है। मनुष्य के हाथ का जितना महत्व ऋग्वेद में प्रतिपादित है, उतना संसार के अन्य किसी ग्रंथ में शायद ही हो। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार वैदिक सभ्यता और हडप्पा सभ्यता में कई समानताएँ थी और यह समानताएँ आकस्मिक नहीं हो सकती थी बल्कि यह सामाजिक अंतः मिश्रण का फल थी। यह समानताएँ वैदिक सभ्यता ने हडप्पा सभ्यता से प्राप्त की या हडप्पा सभ्यता ने वैदिक सभ्यता से प्राप्त की, यह कह पाना संभव नहीं है। इस तरह उन्होंने दोनों के बीच एकता के सूत्रों की खोज पर बल दिया। ऋग्वेद से आगे अध्ययन करते हुए उन्होंने रामायण, महाभारत, अथर्ववेद, चरक संहिता आदि के आधार पर सामाजिक विकास को लक्षित किया। जिसमें भारत में न केवल वर्ण-व्यवस्था और व्यक्तिगत संपत्ति आ गई थी बल्कि आदिम साम्यवादी युग मे चली जाती हुई सभा और समिति जैसी बहुत सी लोक संस्थाएं भी बनी हुई थी, जिनके कारण राजा और राजसत्ता निरंकुश नहीं थी। उन्होंने इस समय के भाषा विज्ञान, शरीर विज्ञान आदि क्षेत्रों की उन्नति की भी चर्चा की और यह सब करते हुए उनका लक्ष्य था प्राचीन भारत में विकास के चरणों को चिन्हित करना तथा औपनिवेशिक धारणाओं का खंडन करना। इसी प्रकार बौद्ध धर्म के उदय को वह इस रूप में देखते हैं कि ईसाइयत और इस्लाम के जन्म के पहले ही भारत ने विश्व को मानवता का दर्शन दे दिया था। गौतम बुद्ध का विद्रोह असाधारण था। उन्होंने वर्ण व्यवस्था का भीषण विरोध किया और जाति विहीन समाज का समर्थन किया। पुनर्जागरण के प्रश्न पर भी वे उपनिवेशवादी सोच को चुनौती देते दिखाई देते हैं। भारतीय साहित्य की भूमिका में वे कहते हैं कि, "यूरोप में जब पुनर्जागरण आरंभ हुआ, उससे बहुत पहले वैसे ही युग का आविर्भाव तमिलनाडु में हो चुका था। इटली की तरह यहाँ साहित्य के साथ कलाओं का विकास हुआ, व्यापारिक संबंधों का प्रसार हुआ और इटली से भिन्न काफी समय तक तमिलनाडु राजनीतिक रूप से एकताबद्ध रहा। जब अंग्रेजों ने भारत में अपना राज कायम किया तब तमिल भाषा, उसके साथ तमिल जाति का विकास हो चुका था।"

भारतीय नवजागरण को यूरोपियों के आगमन से जोड़ने वाली औपनिवेशिक सोच का भी डॉ. रामविलास शर्मा ने भीषण विरोध किया और नवजागरण के तत्व प्राचीन साहित्य में खोज निकाले धार्मिक, सामंती रुढ़ियों का विरोध नवजागरण का एक प्रमुख लक्षण है, जिसे उन्होंने कालिदास के

'अभिजान शाकुंतलम्' में स्त्री अधिकारों के लिए दर्शित संघर्ष के माध्यम से तथा मध्यकाल में सूफी-संतों के काव्य के माध्यम से भी अपने कथन को तार्किक रूप से सिद्ध किया है। सनातन धर्म के विरुद्ध महात्मा बुद्ध का विद्रोह इसी प्रवृत्ति का एक उदाहरण है, जिसे चिन्हित करने का काम डॉ. रामविलास शर्मा ने किया। इसी तरह के उदाहरण उन्होंने मध्यकालीन सांस्कृतिक आंदोलनों के रूप में स्थापत्य, चित्रकला और संगीत के क्षेत्र से भी दिए। संगीत के क्षेत्र में अमीर खुसरों के काल से लेकर तानसेन तक धूपद की परंपरा का उल्लेख करते हुए वे मानते हैं कि यह संगीत में हिंदी नवजागरण का चिन्ह है, क्योंकि गीतों की भाषा लोकभाषा है और भक्ति आंदोलन को तो वे दक्षिण और उत्तर भारत की अविभाज्य घेतर्फे के रूप में देखते हैं। इस तरह डॉ रामविलास शर्मा ने औपनिवेशिक विचारों को चुनौती दी, उनका मूल्यांकन किया और वास्तविकता को प्रस्तुत किया।

भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना, 'सन १८५७ की क्रांति का पुर्नमुल्यांकन भी डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने इसी दृष्टिकोण से किया। सन १९५७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'सन सतावन की राज्यक्रांति और सन १९९० में प्रकाशित 'सन सत्तावन की राज्यक्रांति और मार्क्सवाद में उन्होंने न केवल अट्ठारह सौ सत्तावन की क्रांति के प्रति उपनिवेशवादी सोच को चुनौती दी बल्कि उसका खंडन करते हुए उसे इस रूप में प्रस्तुत किया जो युगांतरकारी था और जिस पर भारतीय समाज गर्व कर सकता था। जिन भारतीय और ब्रिटिश इतिहासकारों ने १८५७ के घटनाक्रम पर इस तरह के तर्क गढ़े थे जैसे, १८५७ का विद्रोह सामंतों का अपनी सत्ता वापस पाने के लिए विद्रोह था, यह धर्मांधता का नतीजा था, यह विद्रोह सफल हो जाता तो भारत पिछड़ा रह जाता, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया रुक जाती आदि। वास्तव में डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार सन सत्तावन की क्रांति साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनमानस का जागरण था और अपने इस स्थापना की पुष्टि में उन्होंने लार्ड मैकाले के कथन के माध्यम से इंग्लैंड की साम्राज्यवादी मशाओं को खोलकर रख दिया। दूसरी तरफ इस कथन की पुष्टि हाउस ऑफ कॉमन्स में पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि जॉन ब्राइट के कथन से की। उन्होंने अट्ठारह सौ सत्तावन की क्रांति के पीछे देश की परतवता, किसानों और व्यापारियों की आर्थिक तबाही, अन्यायपूर्ण शासन प्रणाली आदि को देखा और भारतीय जनमानस में इन्ही कारणों से उपजी शासन के प्रति तीव्र घृणा इस राज्यक्रांति के रूप में सामने आई। इसके पीछे भारतीय जनमानस की स्वातंत्र्य चेतना काम कर रही थी। इसके साथ ही उन्होंने यह भी दिखाया कि किस तरह अट्ठारह सौ सतावन के संग्राम के समय हिंदुस्तानी भाषा संस्कृतनिष्ठ हिंदी या फारसीनिष्ठ उर्दू के स्थान पर हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग करते हुए संदेशों को प्रसारित किया गया। जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह राज्यक्रांति बिना किसी सांप्रदायिक भेदभाव के आयोजित हुई और इसमें हिन्दू मुस्लिम सभी सम्मिलित थे। सन १८५७ की क्रांति के बाद ही भारतीयों में अंग्रेजी राज के विरुद्ध चेतना क्रोधपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त होने लगी और भारतीय जनमानस एकता के सूत्र में बंधने लगा। उन्होंने ये यह दिखाया कि फ्रांस की राज्यक्रांति के तीन आदर्श स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व अट्ठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रांति के भी आदर्श थे यह राज्यकांति देश के नए बुद्धिजीवी वर्ग की चेतना के

munotes.in

विपरीत लोक चेतना की अभिव्यक्ति थी। ऐसे विश्लेषणो से डॉ. रामविलास शर्मा के राष्ट्रीय बोध और जनवादी होने का प्रमाण मिलता है।

हिंदी जाति और साहित्य का इतिहास डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी जाति और उसके साहित्य के इतिहास पर एक मौलिक सोच और विचार अपने लेखन के माध्यम से दिया है। इस संबंध में मुख्य रूप से हिंदी जाति का साहित्य ग्रंथ में उनके विचार व्यवस्थित रूप से मिलते हैं। हिंदी जाति के अस्तित्व के संबंध में उनका मानना है कि यूरोप में जब इतालवी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि भाषाएँ बोलने वाली जातियों का गठन हुआ, तब उनके साहित्य का आधुनिक काल शुरु हुआ, जिसके कई चरण है। परंतु इसकी शुरुवात जातीय गठन के समय हुई। यही स्थिति हिंदी तथा अन्य अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्य की भी है। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले विभिन्न प्रदेशों में तमिल, बांग्ला, मराठी आदि भाषाएँ बोलने वालों की जातियों का गठन हो चुका था। इसी आधार पर हिंदी जाति का निर्माण भी एक हजार वर्ष पहले हो चुका होगा और हिंदी जाति के वृहद सांस्कृतिक इतिहास का ही अंग हिंदी जाति के साहित्य का इतिहास है। इसी विश्लेषण के क्रम में उनका मानना है कि भारत में पूंजीवाद का आगमन अँग्रेज़ी राज से पहले ही आ चुका था। अन्य इतिहासकारों की इस धारणा का कि, भारत ने पूंजीवाद का आगमन अँग्रेज़ी राज की देन है, का उन्होंने खंडन किया। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि खुसरो और विद्यापति के काल में हिंदी जाति के निर्माण की प्रक्रिया के साथ आधुनिकता, नवजागरण और पूंजीवाद आ चुका था। इसी विश्लेषण क्रम में वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काल विभाजन के आधारों और नामकरण में भी कुछ परिवर्तन उपस्थित करते हैं। उनका मानना है कि हिंदी का आदिकाल वास्तव में मध्यकाल है और वीरगाथाकाल रीतिवाद का प्रथम उत्थान। इसी तरह पूर्व मध्यकाल लोकजागरण का काल है और उत्तर मध्यकाल, रीतिवाद का द्वितीय उत्थान है। अपने विश्लेषण के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंदी जाति का निर्माण १३वीं सदी तक हो चुका था। इस तरह वे यूरोपीय नवजागरण से भी पहले हिंदी में नवजागरण के पहले चरण की शुरुवात मानते हैं। भारत में व्यापारिक पूंजीवाद की शुरुवात को सत्यापित करने के लिए वे कबीर और तुलसी के उदाहरण देते हैं।

मन बनियाँ बनिज न छोड़े, कुनबा वाके सकल हरामी अमृत में विष घोले। (कबीर) और
बणिक को बनिज न चाकर को चाकरी, खेती न किसान को, (तुलसीदास)

के कथनों के द्वारा वे यह सिद्ध करते हैं कि व्यापारिक पूँजीवाद का अस्तित्व पूर्व मध्यकाल में था। इस तरह डॉ. रामविलास शर्मा ने जहाँ एक तरफ नवजागरण, पूँजीवाद आदि अवधारणाओं के विकास को सही तरीके से पहचानने की कोशिश की, वहीं हिंदी साहित्य के इतिहास की कुछ धारणाओं में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कबीर, तुलसी आदि के उद्धरणों का उल्लेख कर तत्कालीन व्यापारिक, साहित्यिक और जातीय प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया और इन प्रक्रियाओं को लोक जागरण की संज्ञा देकर हिंदी के साहित्यिक, सामाजिक इतिहास को सशक्त ढंग से देखने पर बल दिया।

कला संबंधी चिंतन डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने विविध निबंधों में अपनी कलात्मक मान्यताओं की चर्चा और विश्लेषण किया है और उनके अनुरूप विविध साहित्यकारों का मूल्यांकन भी किया है। विषय-वस्तु के संदर्भ में उनका मानना है कि, कला की विषयवस्तु न वेदांतियों का ब्रह्म है, न हीगेल का निरपेक्ष विचार मनुष्य का इंद्रिय बोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौंदर्य-बोध कला की विषय वस्तु है। इस तरह विषयवस्तु के संदर्भ में उन्होंने जो विचार दिए, वे उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचायक हैं। विभिन्न कलात्मक मान्यताओं के संदर्भ में उनके विचार एकदम व्यवहारिक और यथार्थवादी हैं। कला के स्थायित्व के प्रश्न पर उनका मानना है कि साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहाँ इंद्रिय बोध और भाव जगत में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। इस तरह वे साहित्य के सत्य को ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियों की उपज मानते हैं और परिवर्तनशील भी। उनके अनुसार हमारे समाज के नैतिक मूल्य भी विकास के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं और इस संदर्भ में किसी भी प्रकार के सार्वभौमिक सत्य को वह मान्यता नहीं देते।

डॉ. रामविलास शर्मा की विकासवादी अवधारणा उनके कलात्मक चिंतन का आधार है। साहित्य के वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष में वे एक आधारभूत संबंध स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि साहित्य का शिल्प, उसके विभिन्न रूप सामाजिक विकास से ही संभव हुए हैं। जनता तक साहित्य पहुँचाने के साधनों में जो परिवर्तन हुए, उनका प्रभाव उनके रूपों पर भी पड़ा। साहित्य में वस्तु और रूप एक दूसरे से सम्बद्ध ही नहीं होते बल्कि एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। वस्तु और शिल्प इन दोनों में वे वस्तु को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य रचना के लिए ज्यादा निर्णायक भूमिका विषयवस्तु की ही होती है। इसी संदर्भ में वे मात्र भाषा आधारित या रूपवादी समीक्षा सिद्धांतों की आलोचना भी करते हैं। इस संबंध में उनका मानना है कि कुछ आलोचक साहित्य की विषयवस्तु की विवेचना से बचने के लिए भाषा की चर्चा करना यथेष्ट समझते हैं। उनके अनुसार साहित्य में विषय वस्तु को भाषा से अलग नहीं किया जा सकता। इसके विरोध में डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि ऐसे आलोचक यांत्रिक दृष्टि से भाषा का रूपात्मक विवेचन करते हैं। जबकि भाषा, विचारशून्य नहीं हो सकती। इसलिए भाषा का विश्लेषण, विचारों के विश्लेषण के अभाव में अर्थात विषयवस्तु के विश्लेषण के अभाव में अधूरा माना जाएगा।

कलात्मक सौंदर्य के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। इस सम्बन्ध में वे भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारों से काफी साम्य रखते हैं। उनके अनुसार सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत है अर्थात इंद्रियों से जिस सौंदर्य की अनुभूति होती है, वाह्य जगत में उसकी वस्तुगत सत्ता है। इंद्रियां सौंदर्य की परख का साधन हैं, उसका कारण नहीं। वस्तु का • सौंदर्य ही उसके गुण का आधार है। वस्तु का यह गुण मानव मन की उपज नहीं है, इसलिए सौंदर्य की सत्ता मानव मन की नहीं होती बल्कि वस्तु जगत की होती है। क्योंकि प्रकृति के सौंदर्य से या अन्य वाह्य सौंदर्य से प्रेरित और प्रभावित होकर ही हमारे मन में सौंदर्यपरक विचार जागते हैं। इस तरह इंद्रिय-बोध ही संस्कारित होकर भाव-

जगत का निर्माण करता है। वस्तुतः भावों और विचारों का सौंदर्य ही इंद्रिय-बोध पर ही आधारित होता है। अपने विचारों के अनुरूप डॉ. रामविलास शर्मा सौंदर्य चेतना का गहरा संबंध सामाजिक विकास से जोड़ते हैं। उनके अनुसार मनुष्य की सौंदर्य चेतना का विकास भी सामाजिक विकास के साथ-साथ ही होता रहता है । इस तरह डॉ रामविलास शर्मा की दृढ मान्यता है कि सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष संबंध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उसकी विषय वस्तु की विविधता को ध्यान में रखकर ही सौंदर्यशास्त्र का सही विवेचन किया जा सकता है।

अपने इन विचारों के अनुरूप उन्होंने समीक्षा को भी एक दृढ़ आधार देने का काम किया । उनके अनुसार समीक्षा का आदर्श रूप वह है जो वस्तुगत चिंतन पर आधारित हो और द्वंद्वात्मक पद्धति के अनुसार उसमें विषयवस्तु का विश्लेषण किया गया हो तथा साहित्यकार की सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए उस रचना विशेष में समाविष्ट प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्वों की पहचान की गई हो। साथ ही, उसमें साहित्यकार के भावबोध के सापेक्ष उसकी कलात्मकता और भाषा वैशिष्ट्य का विवेचन-विश्लेषण किया गया हो।

४.५ सारांश

हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा के कृती व्यक्तित्व डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी आलोचना के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने संतुलित इतिहास दृष्टि के साथ साहित्य के सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्नों पर भी गंभीर चिंतन किया है। और आलोचना की ऐसी पद्धति को मान्यता दी है, जिसमें विषयवस्तु के साथ-साथ रूप विधान को भी महत्व दिया गया है। उनके विचारधारात्मक आग्रहों के अनुरूप ही उनके आलोचना से जुड़े विचार उनके जनवादी सरोकारों को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा का व्यक्तित्व प्राचीन और नवीन का अदभुत समन्वय प्रस्तुत करता है। उन्होंने जहाँ भारत की राष्ट्रीय अस्मिता के लिए शोधपूर्ण लेखन किया, वहीं साहित्य समीक्षा हेतु एक संतुलित दृष्टिकोण का विकास भी किया। उनकी कृतियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि उनका अध्ययन कितना व्यापक था । उन्होंने इतिहास, संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा के गंभीर प्रश्नों पर अत्यंत चिंतनपरक ग्रंथों की रचना की है। हिंदी आलोचना के लिए उनका योगदान बहुमूल्य है।

४.६ लघुत्तरीय प्रश्न

१. डॉ रामविलास शर्मा सौंदर्य चेतना का संबंध किससे जोड़ते हैं ?

२. डॉ. रामविलास शर्मा को किस तरह का आलोचक माना जाता है ?

३. डॉ. रामविलास शर्मा की पहली समीक्षा कृति कौनसी है?

४. 'अपनी धरती अपने लोग' से किसकी आत्मकथा है ?

४.७ बोध प्रश्न

१. हिंदी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा के विचारों का मूल्यांकन कीजिए ?

२. डॉ. रामविलास शर्मा की साहित्य चिंतन संबंधी अवधारणाओं का परिचय दीजिए ?

३. नवजागरण के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा की अवधारणा को स्पष्ट किजिए।

४. 'हिंदी की जातीय चेतना पर विस्तार से लिखिए।

४.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

१. आधुनिकता और हिन्दी आलोचना - इंद्रनाथ मदान

२. हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ - डॉ. निर्मला जैन

३. हिन्दी आलोचना का विकास - मधुरेश

४. हिन्दी आलोचना दृष्टि और प्रवृत्तियाँ मनोज पाण्डेय

******

munotes.in

इकाई : २

५

डॉ. नगेन्द्र

इकाई की रूपरेखा :

५.० इकाई का उद्देश्य

५.१ प्रस्तावना

५.२ डॉ. नगेन्द्र परिचय एवं कृतित्व

५.३ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणा

५.४ सारांश

५.५ लघुत्तरीय प्रश्न

५.६ दीर्घोत्तरी प्रश्न

५.७ सन्दर्भ पुस्तकें

५.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि –

• आधुनिक हिंदी आलोचना का विकास किस तरह हुआ।

• आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास में डॉ. नगेन्द्र ने क्या योगदान किया।

• आधुनिक हिंदी आलोचना में किन दृष्टिकोणों का विकास हुआ।

५.१ प्रस्तावना

सही मायनों में हिंदी आलोचना का विकास आचार्य रामचंद्र शुक्ल से आरंभ होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना को नई दृष्टि और नया पथ प्रदान करने की दृष्टि से आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ-साथ डॉ नगेंद्र के महत्व को स्वीकार किया जाता है। आलोचना के क्षेत्र में डॉ नगेंद्र ने अपनी शुरुवात साहित्य से संबंधित समसामयिक प्रश्नों से की, बाद में उनका विस्तार होता चला गया। उनका पहला समीक्षात्मक निबंध 'छायावाद' था, जो सन् १९३७ में लिखा गया और उनकी पहली प्रकाशित पुस्तक कवि सुमित्रानंदन पत पर लिखी गई थी, जो सन् १९३८ में प्रकाशित हुई थी। यह वह समय था जब छायावाद अपने पूर्ण चरम पर था और प्रगतिवाद साहित्य के क्षेत्र में अपना प्रभाव धीरे धीरे स्थापित कर रहा था। ऐसे समय में डॉ. नगेंद्र ने हिंदी आलोचना की वृहतत्रयी अर्थात आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंदुलारे वाजपेयी और आचार्य

हजारी प्रसाद द्विवेदी की परंपरा का निर्वहन करते हुए हिंदी आलोचना के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

५.२ डॉ. नगेन्द्र परिचय एवं कृतित्व

डॉ नगेंद्र का जन्म संबंध उत्तर प्रदेश के ब्रज क्षेत्र से था। उनका जन्म अलीगढ़ जिले के अतरौली नामक ग्राम में सन १९१५ में एक जमीदार परिवार में हुआ था। उनके पिता पंडित राजेंद्र और माता श्रीमती शिवधारा थी। डॉ नगेंद के पिता विचारों से आर्य समाजी थे और राजनीतिक रूप से वे कांग्रेस विचारधारा से गहरे तक सम्पर्क में थे और उनका संपूर्ण जीवन आर्य समाज और कांग्रेस की गतिविधियों में बीता। निश्चित रूप से उनके विचारों का प्रभाव डॉ नगेंद्र पर भी पड़ा। डॉ नगेंद्र भी कांग्रेसी विचारधारा तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व से अपने जीवन के अंत तक प्रभावित रहे। डॉ नगेंद्र का विवाह वर्ष १९३४ में रक्षावती देवी के साथ संपन्न हुआ, जो स्वयं भी उच्च शिक्षित और आर्य समाजी विचारों की महिला थी। इसका परिणाम यह था कि डॉ नगेंद्र के स्वयं के उदारवादी विचारों को पर्याप्त पोषण मिला और इसका प्रभाव उनके भविष्य गत जीवन पर पूर्ण रूप से दिखाई देता है।

डॉ. नगेंद्र की प्राइमरी शिक्षा अतरौली गाँव के स्कूल में ही संपन्न हुई जहाँ से सन १९२८ में उन्होंने आठवीं कक्षा तक की शिक्षा हासिल की। सन् १९३० में एंग्लो वैदिक हाईस्कूल अनूपशहर से प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल पास किया। इंटरमीडिएट की शिक्षा चंदौसी शहर में पूरी की और सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा से उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की। वर्ष १९३६ में अंग्रेजी विषय के साथ उन्होंने एम. ए. की उपाधि हासिल की। इसके साथ-साथ नागपुर विश्वविद्यालय से सन १९३७ में हिंदी विषय से एम. ए. की उपाधि भी हासिल की। इसी दौर में उन्होंने 'सुमित्रानंदन पंत' और 'साकेत एक अध्ययन' जैसी महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की और अपनी आलोचनात्मक मेघा का संकेत दे दिया। डॉ नगेंद्र ने रीतिकालीन पृष्ठभूमि में देव का स्थान' विषय पर शोध कार्य हेतु नामांकन कराया परंतु सन १९४७ में आगरा विश्वविद्यालय ने उनके तब तक के कृतित्व को ध्यान में रखते हुए उनकी पी-एच.डी. की अर्हता को निरस्त कर उन्हें डी. लिट. की उपाधि प्रदान की। इस दुर्लभ उदाहरण से उनकी विद्वता के प्रभाव को आँका जा सकता है। डॉ. नगेंद्र का यह शोधप्रबंध आज भी अत्यंत महत्व रखता है। इस शोध प्रबंध का प्रकाशन रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता के नाम से दो भागों में प्रकाशित है।

यद्यपि डॉ. नगेन्द्र अपना लेखन कार्य सन् १९३७ के आसपास आरंभ कर चुके थे परंतु उन्हें उपयुक्त वातावरण और समय तब मिला जब वे सन १९५२ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में नियुक्ति पा गए। उनके पहले हिंदी विभाग, संस्कृत विभाग के अंतर्गत संचालित होता था परंतु अब वह स्वतंत्र हुआ और इस स्वतंत्र हिंदी विभाग के पहले अध्यक्ष के रूप में डॉ नगेन्द्र नियुक्त हुए। यहीं से उनके अकादमिक और लेखकीय जीवन में बड़ा परिवर्तन उपस्थित हुआ। डॉ नगेंद्र ने समीक्षा के

क्षेत्र में लगभग ४० से अधिक पुस्तकों का लेखन किया। लगभग ४५ पुस्तकें उनके द्वारा संपादित की गयी। यह सभी पुस्तकें हिंदी साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान करने वाली पुस्तके थी। उनके द्वारा लिखी गई कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ है- सुमित्रानंदन पंत (१९३८), साकेत एक अध्ययन (१९३९), आधुनिक हिंदी नाटक (१९४०), रीतिकाव्य की भूमिका (१९४९), देव और उनकी कविता (१९४९), आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (१९५५), विचार और विश्लेषण (१९५५). भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (१९५५), भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा भाग १ (१९५६), काव्य में उदात्त तत्व (१९५८), अरस्तु का काव्यशास्त्र (१९५७), अनुसंधान और आलोचना (१९६१), कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ (१९६२). रस सिद्धांत (१९६४), आलोचक की आस्था (१९६६), काव्य-बिंब (१९६७), आस्था के चरण (१९६८) नई समीक्षा नए संदर्भ (१९७०), भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (१९७३), शैली विज्ञान (१९७६), शोध और सिद्धांत (१९७६), भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा भाग २ (१९७७), मिथक और साहित्य (१९७८), साहित्य का समाजशास्त्र (१९८२), पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र सिद्धांत और परिदृश्य (१९८४), भारतीय, समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य-दृष्टि (१९८५), साहित्यिक अनुसंधान सिद्धांत और प्रक्रिया (१९८७), प्रसाद और कामायनी मूल्यांकन का प्रश्न (१९९०) आदि। यह सभी पुस्तकें हिंदी समीक्षा की अनमोल विरासत है। इसी प्रकार उन्होंने भारतीय एव पाश्चात्य साहित्य चिंतन से संबंधित विभिन्न ग्रंथों का संपादन भी किया, जिनमें प्रमुख हैं हिंदी ध्वन्यालोक (१९५२), हिंदी काव्यालंकारसूत्रवृति (१९५४), हिंदी वक्रोक्तिजीवितम (१९५५), हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (१९७६), पाश्चात्य काव्यशास्त्र सिद्धात और बाद (१९६६), पाश्चात्य काव्यशास्त्र मार्क्सवादी परंपरा (१९६९). भारतीय साहित्य कोश (१९७३), भारतीय कृष्णकाव्य और सूरसागर (१९७९), तुलनात्मक साहित्य (१९८५), भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास (१९८९). नेहरू का साहित्य संसार (१९९०), विश्व साहित्यशास्त्र (१९९६) आदि।

उपर्युक्त समीक्षा ग्रंथों के अतिरिक्त डॉ नगेंद्र ने बनमाला (१९३७) छंदमयी (१९४९) जैसे दो काव्यसंग्रहों की भी रचना की। उन्होंने चेतना के बिम्ब (१९६७), अधकथा (१९८८) जैसे संस्मरणात्मक और आत्मकथात्मक ग्रंथों की रचना की। तंत्रालोक से यंत्रालौक तक (१९६८), अप्रवासी की यात्राएँ (१९७१) उनके द्वारा लिखे गए यात्रावृत्त है।

वस्तुतः डॉ नगेंद्र में अद्भुत सृजनात्मक और समीक्षात्मक प्रतिभा थी, इसीलिए वे शताधिक ग्रंथों की रचना और संपादन कर सके। उनके अध्ययन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। उन्होंने जितने अधिकारपूर्ण ढंग से भारतीय साहित्यशास्त्रीय संदर्भो पर अपनी लेखनी चलाई, उतने ही अधिकारपूर्ण ढंग से उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा के मानकों पर भी लेखन कार्य किया। उन्होंने प्राचीन और नवीन तथा पूर्व और पश्चिम के समन्वय का अद्भुत प्रयास किया। डॉ. नगेंद्र का निधन सन १९९९ में हुआ।

५.३ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ :

समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाँति ही डॉ. नगेंद्र का कार्यक्षेत्र भी अत्यंत व्यापक था। समीक्षा के संबंध में उनकी विभिन्न मान्यताएँ उनके विविध निबंधों में स्पष्ट की गई हैं। इस दृष्टि से उनकी कृतियाँ आलोचक की आस्था, आस्था के चरण, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, तथा काव्यचिंतन आदि का अत्यंत महत्व है। इसके अतिरिक्त भी उनके सभी समीक्षा ग्रंथों में संदर्भानुकूल उनकी विविध मान्यताएँ विकसित हुई हैं।

डॉ नगेंद्र ने अपने समीक्षात्मक लेखन का आरंभ एक स्वच्छंदतावादी समीक्षक के रूप में किया था। उनका पहला समीक्षात्मक निबंध 'छायावाद' था और पहली समीक्षात्मक कृति सुमित्रानंदन पंत'। डॉ नगेंद्र से पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी दोनों ही स्वच्छंदतावादी काव्य पर अपने विचार व्यक्त कर चुके थे और इसी के चलते आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की नैतिक काव्य-दृष्टि से अलग हटकर साहित्य की स्वायत्त संस्कृति का पक्षधर बनकर स्वच्छंदतावादी काव्य की सकारात्मक समीक्षा की थी। अब इससे और आगे बढ़ते हुए डॉ नगेंद्र ने आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के सौष्ठववाद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रसवाद से अलग हटकर अपनी मान्यताओं के आधार पर इसकी समीक्षा की। उन्होंने स्वच्छंदतावाद को भारतीय रस दृष्टि के अनुरूप व्याख्यायित करने का कष्ट साध्य कार्य किया।

स्वच्छंदतावाद या छायावाद के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी आदि समीक्षकों के विचारों का सम्यक विश्लेषण करने के बाद डॉ. नगेंद्र छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है। इसकी परिधि में सब प्रकार के वाह्य रूप-रंग आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छंद कल्पना और टेक्निक का विद्रोह।" छायावाद के लिए निश्चित की गई डॉ नगेंद्र की यह उक्ति स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह आज भी छायावाद को परिभाषित करने का एक मानक बनी हुई है। आगे अपनी बात को और विस्तार देते हुए ये कहते हैं, "आधुनिक छायावाद भी एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप है, जिसकी नीव 'सौंदर्य और अदभुत' के मिश्रण पर स्थित है।" अपनी इन स्थापनाओं के द्वारा डॉ. नगेन्द्र ने अन्य समीक्षकों से अंतर स्थापित कर लिया। उन्होंने सौंदर्यानुभूति की पाश्चात्य अवधारणा के साथ रसानुभूति की भारतीय अवधारणा में तालमेल स्थापित कर दिया और इसी जगह पर उनकी रस अवधारणा आचार्य रामचंद्र शुक्ल से अलग हो गयी। डॉ. नगेंद्र ने सौंदर्य को रस के साथ सम्मिलित कर उसकी भाववादी व्याख्या की और इस रूप में उन्होंने रहस्यानुभूति को भी रस सिद्धांत के दायरे में समाविष्ट कर लिया। दूसरी तरफ आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी को सौंदर्य की पाश्चात्य अवधारणा उतनी सरोकार नहीं थी और रहस्यानुभूति के स्तर पर भी वे गुरेज करते रहे।

munotes.in

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों में डॉ. नगेंद्र रस सिद्धांत को सर्वाधिक मान्यता प्रदान करते हैं और उसे सर्वाधिक व्यापक भी मानते हैं। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का विशद अध्ययन किया और अपनी मान्यताओं को 'रस सिद्धांत' पुस्तक में अभिव्यक्त भी किया। उनके अनुसार इस प्रकार रस एक व्यापक शब्द है, वह विभावानुभाव व्यभिचारि संयुक्त स्थायी' अर्थात परिपाक अवस्था का ही वाचक नहीं है वरन उसमें काव्य की संपूर्ण भाव संपदा का अन्तर्भाव है। अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भाव सौंदर्य का पर्याय है, शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौंदर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है। काव्य के अनुचिंतन से प्राप्त रागात्मक अनुभूति के सभी रूप और प्रबल, सरस और जटिल, क्षणिक और स्थायी, संवेदन, स्पर्श, चित-विकार, भाव-बिंब, संस्कार, मनोदशा, शील सभी रस की परिधि में आ जाते हैं।" रस को इतनी व्यापकता देने का कारण भी था और वह कारण यह था कि रस सिद्धांत को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह सभी काव्य कृतियों के मूल्यांकन की क्षमता से युक्त हो जाए। रस को मनोवैज्ञानिक आधार देते हुए डॉ. नगेंद्र रस की वास्तविक स्थिति मनो जगत में ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि, "रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति ही है।" ऐसा कहकर डॉ. नगेंद्र ने प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक की कविता के मूल्यांकन का आधार रस सिद्धांत को प्रदान कर दिया। उन्होंने अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे भारतीय काव्य-संप्रदायों के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि को भी रस सिद्धांत के भीतर समाविष्ट माना है। वास्तव में उनके अनुसार, "रस सिद्धांत एक ऐसा व्यापक सिद्धांत है, जिसमें इन सभी संप्रदायों और वादों का विरोध मिट जाता है। जो सभी के अनुकूल पड़ता है और सभी को अपने स्वरूप में समन्वय कर लेता है। आधुनिक काल में अस्तित्व में आए तमाम समीक्षा सिद्धांतों, जैसे नई समीक्षा, सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा, मिथकीय समीक्षा, समाजशास्त्रीय समीक्षा आदि सभी से वे भलीभांति परिचित थे परंतु उन्हें इन सभी समीक्षा सिद्धांतों के एकांगी होने का विश्वास था। अपने अध्ययन से उन्होंने यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि यह सभी समीक्षा सिद्धांत सीमाओं से बंधे हुए हैं और इनमें रस सिद्धांत जितनी व्यापकता एवं सामर्थ्य नहीं है। उनकी दृष्टि में रस सिद्धात ही एकमात्र ऐसा निर्विवाद सिद्धांत है जो देश-काल से परे है अर्थात वह किसी भी युग की कविता या किसी भी स्थान की कविता की समीक्षा के लिए उपयुक्त है।

अपनी इन धारणाओं के माध्यम से डॉ. नगेंद्र ने समीक्षा के क्षेत्र में दोहरे उद्देश्यों की सिद्धि की। पहला, तो उन्होंने रहस्यवाद को भी रस के दायरे में समेट लिया और इस तरह स्वच्छंदतावाद की समीक्षा का सकारात्मक मार्ग खोज लिया और दूसरी तरफ इन अवधारणाओं के कारण उन्होंने नए-पुराने हर तरह के काव्य की आलोचना करने में भी सिद्धि हासिल की। डॉ. नगेन्द्र के आलोचना कर्म को देखने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी रुचि व्यवहारिक समीक्षा की अपेक्षा सिद्धांत विवेचन में अधिक रही है। यद्यपि उन्होंने व्यवहारिक समीक्षा पर आधारित कुछ पुस्तकों की रचना भी की थी जिनमें सुमित्रानंदन पंत, 'साकेत एक अध्ययन और कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ प्रमुख हैं। जिनमें उन्होंने भारतीय एव पाश्चात्य दोनों ही कला प्रतिमानों का संतुलित प्रयोग किया है। उनकी इन व्यवहारिक आलोचना संबंधी कृतियों में भी सैद्धांतिकता के प्रति अधिक झुकाव देखने को मिलता है। उनका आलोचकव्यक्तित्व विभिन्न आलोचना पद्धतियों के विश्लेषण में अधिक लगा रहा है।

डॉ. नगेंद्र की समीक्षा दृष्टि का एक बड़ा हिस्सा काव्य पर आधारित है, गद्य प्रायः उनकी दृष्टि में नहीं था। काव्य और उसके अन्य उपादान के संबंध में उनकी कृतियों में व्यापक विचार-विमर्श मिलता है। प्रायः सभी समीक्षकों ने कविता के स्वरूप को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। डॉ नगेंद्र के अनुसार कविता को व्यापक अर्थ में रस के साहित्य अथवा ललित वांग्मय को मैं मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही मानता हूँ।" आत्माभिव्यक्ति का यह सिद्धात उनके काव्य संबंधी समस्त विचारों का आधार है। कृति 'आस्था के चरण में उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की इस अवधारणा का सविस्तार वर्णन किया है। भक्तकवि तुलसीदास के उदाहरण से इस बात को समझाते हुए वे लिखते हैं, "विनयपत्रिका और रामचरितमानस दोनो ही तुलसी की आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं इन दोनों में मूल प्रेरणा का भेद न होकर माध्यम प्रतीकों और बिम्बों का ही भेद है। दोनों के माध्यम से ही तुलसी ने आत्माभिव्यक्ति की है, केवल उसके प्रकार में भेद है; एक में आत्माभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है अर्थात लघु-सरल प्रतीकों के द्वारा हुई है और दूसरे में व्यापक एवं संश्लिष्ट प्रतीकों के द्वारा। डॉ. नगेंद्र की इस अवधारणा पर पाश्चात्य काव्य-चिंतक इलियट का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कविता को रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति मानने के बावजूद डॉ नगेंद्र यह मानते थे कि कवि के व्यक्तिगत भाव कला-सृजन की प्रक्रिया में स्व और पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना का विषय बन जाते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "अभिव्यक्ति अर्थात कला। सृजन की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्तिगत भाव भी स्व पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना शास्त्रीय शब्दावली में, निर्विघ्न प्रतीति का विषय बन जाता है। अतः कविता भाव का वमन नहीं है, यह तो मैं भी मानता हूँ, किंतु यह मान्यता आत्माभिव्यक्ति के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति वमन नहीं है।"

आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत की व्याख्या के क्रम में वे काव्य के प्रयोजन के संदर्भ में भी विचार करते हैं। उन्होंने आत्माभिव्यक्ति को 'आत्मनः कामाय' से जोड़कर उससे प्राप्त होने वाले आनंद को काव्याभिव्यक्ति का अंतिम प्रयोजन घोषित किया है। इस संदर्भ में वे कहते हैं, "सवाल यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है? मेरा उत्तर है- आनंद। मनुष्य अपने सभी कर्म 'आत्मनः कामाय' ही करता है। इसके प्रतिपक्ष में विचारकों के दूसरे वर्ग ने 'लोक हिताय' की प्रतिष्ठा की है। किंतु यह केवल दृष्टि का ही भेद है, आत्मवादी जहाँ प्रकृति को अपनी चेतना के भीतर खींचकर उसका भोग करता है, वहाँ लोकवादी आत्मा का प्रकृति में विस्तार करता है, पर यह दोनों ही अपने-अपने ढंग से आनंद-साधना ही करते हैं। इस तरह आनंद को वे प्रयोजन घोषित करते हैं। कर्ता के संबंध में आनंद जहाँ सृजन से जुड़ा हुआ है, वहीं सहृदय के संबंध में यह आनंद आस्वाद से संबंधित है। और यह आस्वाद कल्पनागम्य, शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का होता है। आस्वाद के इसी रूप को वे रस की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार "आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र में रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ में आनंद का विशिष्ट अर्थ है रस, और यही काव्य का प्रयोजन है।"

डॉ. नगेंद्र के अनुसार काव्य के अस्वायत्व से ही काव्य मूल्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। इस संबंध में वे मानते थे कि जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा। उनके द्वारा इस धारणा को मान लेने पर शास्त्र विरोध का प्रश्न उपस्थित हो

जाता है अर्थात काव्य मूल्य मानने पर काव्य का उत्कृष्ट या निकृष्ट निर्धारण होना संभव हो जाता है जबकि रस सिद्धांत की शास्त्रीय व्याख्या में रस कोटियों कि कोई भी चर्चा नहीं की गई है। इसका निराकरण करते हुए वे मानते हैं कि यद्यपि सिद्धि की अवस्था में रस का स्वरूप अखंड हैपरंतु संकलित प्रभाव की अवस्था में रागात्मक स्थितियों के संख्या भेद से मात्रा का भेद हो जाता है और इस मात्रा भेद का निर्धारण भी आस्वाद दशा के स्थायित्व के आधार पर उन्होंने किया। उनके अनुसार रस में मात्रा भेद की प्रतीति की यही उचित व्याख्या है। उन्होंने इस भेद को स्वरुपगत या गुणात्मक नहीं माना है बल्कि कालिक और नैतिक माना है। इस तरह डॉ. नगेंद्र ने अपनी नवीन उ उद्भावनाओं के द्वारा रस सिद्धांत को और समृद्धि प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। रस सिद्धांत को नवीन उद्भावनाएँ प्रदान करने में निश्चित रूप से डॉ. नगेंद्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुगामी थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी रस सिद्धांत की शास्त्रीय मान्यताओं को आधुनिक समीक्षा के सिद्धांतों और आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुरूप नए ढंग से व्याख्यायित करने का काम किया था। डॉ. नगेंद्र ने इसी का अनुसरण करते हुए रस सिद्धांत को और अधिक व्यापकता देने का काम किया। डॉ. नगेंद्र यह मानते थे कि मूलतत्वों की दृष्टि से जीवन के मूल्य अक्षुण्ण है, बस देश काल के अनुरूप उनमें संशोधन और विकास होता रहता है।

डॉ. नगेंद्र ने काव्यास्वाद और काव्याभिव्यक्ति के स्वरूप और प्रश्न पर भी विचार किया है। वे काव्यास्वाद या अनुभूति और काव्याभिव्यक्ति या अभिव्यंजना के बीच अभिन्न संबंध मानते हैं परंतु अभिव्यंजना को वे भाव-निर्भर ही मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार वाणी का असली चमत्कार तो भाव-प्रेरित ही हो सकता है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति को तात्विक दृष्टि से अभिन्न मानने के बावजूद व्यवहारिक समीक्षा की दृष्टि से वे दोनों की प्रथकता को स्वीकार करते हैं। इन दोनों में ही वे अनुभूति को निश्चित रूप से अधिक महत्व देते हैं क्योंकि अनुभूति ही कविता का प्राणतत्व है और अनुभूति ही अभिव्यक्ति के सौंदर्य का आधार है। अभिव्यक्ति या काव्याभिव्यंजना के उन्होंने दो मूल तत्व माने हैं बिम्ब और छंद, और इन तत्वों की सार्थकता अमूर्त अनुभूति को मूर्त बनाने में है। उनके अनुसार जो मन या हृदय का विषय है, उसे इंद्रियों का विषय बनाना ही अमूर्त को मूर्त करना है। डॉ. नगेंद्र साहित्य के विभिन्न रूप-भेदों में तात्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं मानते। अर्थात प्रबंध, प्रगीत, नाटक, उपन्यास आदि में कोई मौलिक भेद नहीं है और इनके रूप-भेद से साहित्य के आस्वाद में कोई मौलिक अंतर नहीं आता। उनके अनुसार नाटकों में आख्यान तत्व और आख्यानो में नाटकीय तत्व घुले - मिले रहते हैं या परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। वास्तव में काव्य-रूपया विभिन्न विधाएँ अनुभूति के आस्वाद के विभिन्न माध्यम ही हैं और इन माध्यमों से जो आस्वाद प्राप्त होता है उसकी अंतिम परिणति 'चित की समाहिति' में होती है।

डॉ. नगेंद्र के आलोचना सिद्धांतों के विकास में उनकी विशिष्ट इतिहास चेतना का भी बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विभिन्न भारतीय भाषाओं अथवा विश्व की भाषाओं में रचे गए साहित्य के संदर्भ में उनका यह विश्वास था कि इनमें आधारित विभिन्नताओं के भीतर मूलभूत एकता के तत्व अनिवार्य

रूप से खोजे जा सकते हैं। इसीलिए भारतीय भाषाओं के संदर्भ में तो इस प्रकार का अध्ययन उन्होंने किया ही बल्कि विश्व के संदर्भ में भी उन्होंने अपनी इसी धारणा के अनुरूप अध्ययन किए और विश्व साहित्य शास्त्र नाम के ग्रंथ का संपादन भी किया। उनका मानना था कि हर देश की अपनी विशिष्ट भाषा, संस्कृति और समाज के अनुरूप अपना-अपना विशिष्ट साहित्य होता है और इस साहित्य के अनुरूप अपना विशिष्ट साहित्यशास्त्र भी होता है। परंतु भाषाई एवं परिवेशगत तथा अन्य अंतर होने के बावजूद प्रत्येक भाषा के साहित्य और शास्त्र में कुछ तत्व ऐसे निश्चित रूप से मिल जाएँगे, जो सार्वभौमिक और शाश्वत होते हैं और डॉ. नगेंद्र की यह स्पष्ट धारणा थी कि इन तत्वों के आधार पर विश्व साहित्यशास्त्र की कल्पना को साकार किया जा सकता है। डॉ. नगेंद्र की यह इतिहास-दृष्टि उनके विभिन्न आलोचकीय निष्कर्षों में स्पष्ट रूप से लक्षित भी की जा सकती है।

५.४ सारांश

डॉ. नगेंद्र के विश्लेषण की एक विशेष शैली थी। वे अपने अध्ययनों के आधार पर पहले अपना एक मत सुनिश्चित कर लेते थे। इसके बाद वे उस मत के पक्ष में विभिन्न तथ्यों और तर्कों के आधार पर उसकी पुष्टि सुनिश्चित करते थे और अंत में तमाम प्रतिरोधी मतों का उल्लेख और खंडन करते हुए निर्णयात्मक शैली में अपना मत प्रतिपादित करते थे। डॉ. नगेंद्र की आलोचना का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था, जिसमें प्राचीन से लेकर आधुनिक तक सभी कुछ समाविष्ट था। काव्यशास्त्रीय चिंतन के संदर्भ में उन्होंने न केवल प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का मूल्यांकन किया बल्कि उसके साथ-साथ पाश्चात्य अवधारणाओं का भी सम्यक मूल्यांकन किया और इस रूप में उन्हें जो कुछ भी उपयुक्त लगा, उसे उन्होंने स्वीकार किया। आधुनिक समीक्षा सिद्धांतों का भी उन्होंने अपनी दृष्टि से मूल्यांकन किया। साहित्य के इतिहास की विभिन्न अवधारणाओं पर उनका मौलिक चिंतन अत्यंत महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। उनके व्यवहारिक समीक्षा से संबंधित ग्रंथ उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं की पुष्टि करते हैं। हिंदी समीक्षा को दिया गया उनका योगदान चिरस्मरणीय है।

५.५ लघुत्तरीय प्रश्न

१. निम्न में से किसने अपने समीक्षात्मक लेखन का आरंभ एक स्वच्छन्दतावादी समीक्षक के रूप में किया था ?

२. डॉ. नगेंद्र की प्रथम प्रकाशित समीक्षात्मक कृति है!

३. यात्रावृत्त 'अप्रवासी की यात्राएँ' के लेखक कौन हैं ?

४. विभिन्न काव्यरूप या विधाएँ किसके माध्यम हैं ?

५.६ दीर्घोत्तरी प्रश्न

1. डॉ. नगेंद्र की रस अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
२. डॉ. नगेंद्र के प्रमुख समीक्षात्मक विचारों का विश्लेषण कीजिए ?
३. 'अनुभूति' के संबंध में डॉ. नगेंद्र के विचार लिखिए।
४. काव्यास्वाद और काव्याभिव्यक्ति के संदर्भ में डॉ. नगेंद्र के विचार।

५.७ सन्दर्भ पुस्तकें

१. आधुनिकता और हिन्दी आलोचना - इंद्रनाथ मदान
२. हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ - डॉ. निर्मला जैन
३. हिन्दी आलोचना का विकास - मधुरेश
४. हिन्दी आलोचना: दृष्टि और प्रवृत्तियाँ - मनोज पाण्डेय

******

munotes.in

इकाई : २

६

डॉ. नामवर सिंह

इकाई की रूपरेखा :

६.0 इकाई का उद्देश्य
६.१ प्रस्तावना
६.२ नामवर सिंह
    ६.२.१ परिचय एवं कृतित्व
    ६.२.२ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ
६.३ सारांश
६.४ लघु-उत्तरीय प्रश्न
६.५ बोध प्रश्न
६.६ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

६.0 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि :-

• आधुनिक हिंदी आलोचना का विकास किस तरह हुआ।

• स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना के विकास में डॉ. नामवर सिंह ने क्या योगदान दिया।

• स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना में किन दृष्टिकोणों का विकास हुआ।

६.१ प्रस्तावना

१५ अगस्त १९४७ को भारत की स्वतंत्रता हिंदी साहित्य की संवेदना के विकास में एक विभाजक रेखा का काम भी करती है। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में स्वतंत्रता से पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचक चिन्हित किए जा चुके थे। इनमें से आचार्य नंददुलारे वाजपेयी एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आजादी के बाद भी अपनी आलोचकीय चेतना के साथ सक्रिय बने रहे। स्वतंत्रता के बाद हिंदी आलोचना के क्षेत्र में जिस नई पीढ़ी का आगमन हुआ, उसमें डॉ. नामवर सिंह का नाम सबसे विशिष्ट है हिंदी आलोचना को सर्वथा नवीन बोध से भरने का जो कार्य उन्होंने किया, वह उन्हें स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना के क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय बनाता है। डॉ. नामवर सिंह को मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में जाना जाता है परंतु वास्तविकता यह है कि उनकी आलोचकीय मेधा, उनके अपने मानदंडों के अनुसार ही चली है। वस्तुतः हिंदी की आलोचकीय परंपरा को समृद्ध करने में उनका भारी योगदान है।

munotes.in

६.२ नामवर सिंह

६.२.१ परिचय एवं कृतित्व

डॉ. नामवर सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के चंदौली जिले के जीयनपुर नामक गांव में २८ जुलाई सन १९२६ को हुआ था। शिक्षा दीक्षा बनारस से हासिल की और हिंदी के प्रख्यात साहित्यकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में उन्होंने अपना शोधकार्य संपन्न किया। कार्यक्षेत्र के रूप में बनारस, सागर, जोधपुर और नई दिल्ली से जुड़े रहे। इनमें सबसे पहले वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापन के लिए जुड़े। इसके बाद डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय (सागर) और जोधपुर विश्वविद्यालय में भी क्रमश: उन्होंने अध्यापन कार्य किया। बाद में वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से जुड़े और अवकाश प्राप्ति तक वे यहीं रहे। एक आलोचक के रूप में समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन का अत्यंत प्रखर प्रयास उनके द्वारा किया गया। हिंदी आलोचना को महत्वपूर्ण देन के रूप में उनकी जो पुस्तकें प्रकाशित हैं, वें निम्नलिखित हैं

हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग (१९५२)
छायावाद (१९५५)
इतिहास और आलोचना (१९५७)
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (१९६२)
कहानी: नई कहानी (१९६५)
कविता के नए प्रतिमान (१९६८)
दूसरी परंपरा की खोज (१९८२)
वाद-विवाद-संवाद (१९८९)

इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखित और वाचिक बहुत फुटकर निबंध विभिन्न पुस्तकों में अन्य विद्वानों के द्वारा संकलित और संपादित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के संपादन से भी वे जुड़े रहे हैं जिनमें सन १९६५ से १९६७ तक साप्ताहिक 'जनयुग' का संपादन उनके द्वारा किया गया और फिर सन १९६७ से १९९0 तक त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' के संपादन कार्य से भी वे जुड़े रहे। डॉ नामवर सिंह की मृत्यु १९ फरवरी २०१९ को नई दिल्ली में हुई।

६.२.२ समीक्षा सिद्धांत एवं अवधारणाएँ

डॉ नामवर सिंह के समीक्षात्मक विचार उनकी उपरोक्त कृतियों, निबंधों तथा उनके द्वारा दिए गए वक्तव्य में भरे पड़े हैं। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. नगेंद्र आदि समीक्षकों की तरह प्राचीन परंपरा के पुनर्विश्लेषण का कार्य नहीं किया। उनकी समीक्षा के केंद्र में आधुनिक साहित्य है। उन्होंने छायावाद को केंद्र में रखकर एक ग्रंथ ही रचा है और स्वतंत्रता के बाद की साहित्यिक प्रवृत्तियों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उनके ग्रंथ आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'कविता के नए प्रतिमान', 'कहानी, नई कहानी आदि में उन्होंने नवीन प्रवृत्तियों के विश्लेषण का कार्य ही किया है।

डॉ नामवर सिंह समीक्षा के भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही तरह के प्रतिमानों से भलीभाँति परिचित थे और अपने विश्लेषण में उन्होंने दोनों का ही भरपूर प्रयोग किया है। आधुनिक संदर्भों में उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों के ही प्रति किसी प्रकार का कोई आग्रह नहीं रखा और आवश्यकता पड़ने पर पाश्चात्य प्रतिमानों को उतना ही महत्व दिया। इसीलिए उन पर यह आरोप भी लगता रहा कि वे पाश्चात्य प्रभावों को भारतीय समीक्षा पर आरोपित करने का प्रयास करते हैं। जबकि ऐसा नहीं था, उन्होंने अपनी समीक्षाओं में बेहद संतुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है और आवश्यकता पड़ने पर ही पाश्चात्य प्रतिमानों का उपयोग किया है।

नामवर सिंह को हिंदी के मार्क्सवादी समीक्षकों में गिना जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के सिद्धांतों पर उनकी गहरी आस्था है। परंतु उन सिद्धांतों को यथावत रचना में देखने के वह विरोधी हैं। उनकी आलोचनात्मक मेधा रचना विशेष के विश्लेषण में अत्यंत प्रखर सिद्ध हुई है। किसी रचना को उसके ऐतिहासिक संदर्भों में देखना, उसमें निहित विचार सारणी का मूल्यांकन करना तथा उसके कलात्मक प्रतिमानों का विश्लेषण करना इन सभी में उनकी प्रखरता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अपनी इसी विशिष्टता के कारण हर रचनाकार और रचना के संदर्भ में उनकी पद्धति थोड़ा बदलती रहती है, जिसके चलते कई बार उनकी आलोचकीय मान्यताओं में अंतर्विरोध भी परिलक्षित होता है परंतु इसे नामवर सिंह की समीक्षा पद्धति की विशिष्टता के रूप में ही लिया जाना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक रचनाकार की अपनी विशिष्ट निर्मिति होती है और उसका रचना संसार उस निर्मिति से विशेष रूप से प्रभावित होता है। ऐसे में मूल्यांकन करते हुए रचना या रचनाकार केंद्रित दृष्टि में अपवाद स्वरूप इस तरह की स्थितियों का आ जाना अवश्यंभावी है। यही कारण रहा है कि कई बार मार्क्सवादी होते हुए भी वे नई समीक्षा के पक्ष में खड़े दिखाई पड़ते हैं। इस तरह स्थिति विशेष के संदर्भ में अपने आलोचकीय प्रतिमानों को थोड़ा लचीला बनाए रखना नामवर सिंह की विशिष्टता है।

एक मार्क्सवादी समीक्षक होते हुए भी वह किसी भी प्रकार के मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के निर्माण के पक्ष में नहीं हैं और इसके पीछे उनकी सतत विकास और संघर्ष की विचारधारा है। किसी भी प्रकार के सौंदर्यशास्त्र का निर्माण कला को सांचे में बंद करने का प्रयास होता है। इसे नामवर सिंह ठीक नहीं समझते। उनके इन्हीं विचारों के अनुरूप उनकी इस विशिष्टता को भी समझा जा सकता है कि वे अपने आलोचकीय प्रतिमानों को लेकर लगातार लचीले बने रहते है। अपने निबंध मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र के विकास की दिशा में वे कहते हैं, 'मार्क्सवाद की परिकल्पना खंडन मंडन और एक सतत संघर्ष के रूप में ही की जा सकती है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र आज विकास की जिस अवस्था में है उसमें तो शास्त्र निर्माण का प्रयास और भी घातक होगा।" और अपनी इस अवधारणा के पीछे वे जिन कारकों को जिम्मेदार समझते हैं, उनकी चर्चा करते हुए आगे कहते हैं, "सबक लेने के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। पहला उदाहरण है सोवियत संघ में समाजवादी यथार्थवाद का शास्त्र निर्माण शास्त्र बनते ही सामाजिक यथार्थ भी सूत्रबदध हो गया और उस यथार्थ को अभिव्यक्त करने की शैली भी देखते देखते एक नया रीतिवाद चल पड़ा। रचना में भी आलोचना में भी..... हालत बहुत कुछ हिंदी की रीतिवादी कही जाने वाली साहित्य प्रवृत्ति की सी हो गई, जब अलंकारशास्त्र के लक्षण ग्रंथों

को सामने रखकर कविताएँ लिखी जा रही थी। वैसे न यथार्थवाद बुरा है न समाजवाद ही। मार्क्स ने एक समय इन्हीं दोनों अवधारणाओं का साहित्य समीक्षा में फुटकल ही सही, क्रांतिकारी और लचीले ढंग से इस्तेमाल किया था। लेकिन शास्त्रबद्ध होते ही वही क्रांतिकारी अवधारणाएँ जड़ सूत्रवाद में बदल गयीं।"

एक मार्क्सवादी चिंतक होने के नाते निसंदेह नामवर सिंह की आस्था मार्क्सवादी सिद्धांतों पर थी परंतु यह भी उतना ही सच है कि वह मार्क्सवाद के विभिन्न राजनीतिक मतभेदों को विशुद्ध साहित्य से दूर रखना चाहते थे। वे मार्क्सवाद को एक राजनीतिक सिद्धांत नहीं बल्कि विश्वदृष्टि के रूप में देखते हैं। इसीलिए कहते हैं कि, 'साहित्य में राजनीतिक मतभेदों को अनावश्यक तूल देने वाले वामपंथी लेकर यह मोटी सी बात भूल जाते हैं कि मार्क्सवाद केवल एक राजनीतिक सिद्धांत नहीं बल्कि एक विश्वदृष्टि है। राजनीति जिसका एक पक्ष है। निसंदेह अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष यह विश्वदृष्टि लेखक को अपने समय की वास्तविकता को उसकी समग्र जटिलता के साथ समझने में सहायक होती है। इसीलिए नामवर सिंह का मानना था कि लेखकों के बीच विश्वदृष्टि पर बहस होनी चाहिए और इस विश्वदृष्टि संबंधी बहस का चरम लक्ष्य वास्तविकता का चित्रण या उद्घाटन ही है, क्योंकि यह वास्तविकता ही किसी रचना को विश्वसनीय बनाती है। लेखक के लिए चुनौती का असली मैदान यही है। इस संदर्भ में दरअसल उनका मानना है कि साहित्य लेखन किसी तरह के राजनीतिक एजेंडे का अनुकरण करके नहीं किया जा सकता। रचनात्मक लेखन के लिए लेखक को अपने आसपास की जिंदगी और वास्तविकता के प्रति आलोचनात्मक स्वर- चेतना को जागृत और विकसित करना कहीं अधिक आवश्यक है।

एक लेखक के दायित्व और रचनात्मक उद्देश्य को लेकर नामवर सिंह एकदम स्पष्ट हैं। लेखन में किसी भी तरीके की राजनीतिक प्रतिबद्धता को वह लेखन के लिए ठीक नहीं समझते हैं। इस संदर्भ में उनका दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे अपने वक्तव्य प्रगतिशील साहित्यधारा में अंध लोकवादी रुझान में कहते हैं कि व्यवस्था विरोध पर विशेष बल देने के कारण वामपंथी लेखन वस्तुतः एक विरोधी लेखन होने की नियति को स्वीकार कर लेता है। जबकि उसका ऐतिहासिक दायित्व शासक वर्ग के साहित्य के विकल्प में एक उच्चतर साहित्य का प्रतिमान प्रस्तुत करना है। यदि सर्वहारा का अधिनायकवाद एक वर्ग के शासन के बाद दूसरे वर्ग का शासन मात्र नहीं बल्कि संपूर्ण मानव जाति की मुक्ति के लिए निर्मित एक उत्तर समाज व्यवस्था है, तो स्पष्ट है कि उसका साहित्य भी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति मात्र नहीं बल्कि समग्र साहित्य की परंपरा को विकास की अगली मंजिल की ओर ले जाने का व्यापक प्रयास है। इस तरह नामवर सिंह भले ही वैचारिक रूप से मार्क्सवाद के प्रति गहरी आस्था रखते हैं परंतु वे विचारधारा की समस्याओं और खतरों से भी परिचित हैं। इसीलिए साहित्य को एक अनवरत परंपरा का हिस्सा मानते हुए वे उसे इस तरह के किसी भी प्रकार के आग्रहों से मुक्त रखना चाहते हैं और उसे विश्वदृष्टि से संपन्न कर संपूर्ण मानव जाति का प्रतिनिधित्व करते देखना चाहते हैं।

जिस समय नामवर सिंह ने एक आलोचक के रूप में हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया वह समय प्रयोगवादी कविता के उफान का समय था। उस समय समीक्षक की दृष्टि से अल्पवय होने के बावजूद नामवर सिंह ने प्रयोगवादी कविता के मूल्यांकन में अत्यंत संतुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया था। प्रयोगवादी कवियों के द्वारा कविता के रूप-विधान पर अत्यधिक बल देने का उन्होंने विरोध किया। उनका मानना था कि रूप-विधान के साथ-साथ वस्तु-तत्व अधिक महत्वपूर्ण है। अत: इन रचनाकारों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त सन् १९५२ में प्रकाशित अपने निबंध 'साहित्य में कलात्मक सौंदर्य की समस्याएँ में वे कहते हैं, "जो अहंवादी लेखक अपनी स्वयंभू रचना शक्ति के भरोसे असमय ही एकांत भजने लगते हैं। उनकी दशा आज के अनेक प्रयोगवादी कवियों की तरह हो जाती है। नतीजा यह होता है कि कविता में या तो दर्द ही दर्द रहता है या सिरदर्द पैदा करने वाली दुरुह पहेलियाँ " इस तरह प्रयोगवादी काव्य में रूप विधान पर अत्यधिक बल दिए जाने और वस्तु पक्ष पर ध्यान न दिए जाने के कारण जो विसंगति पैदा हुई उसे उन्होंने भली भांति लक्षित किया। प्रयोगवादी कविता का समाज-निरपेक्ष होना भी उन्हें अखरता था। इस तरह रचना का सामाजिक संदर्भों से गहरा जुड़ाव उनकी दृष्टि में अपेक्षित था।

प्रयोगवादी कविता की आत्मनेन्दीयता और अहमवादिता को नामवर सिंह लेखन के लिए ठीक नही समझते थे। किसी लेखक या कवि का व्यक्तित्व अपने सामाजिक संदर्भो में जुड़कर ही विस्तार पाता है। इसीलिए वे मानते थे कि अपने आप में लेखक के व्यक्तित्व को पूर्ण मान लेने से उसमें विकास की संभावनाएँ समाप्त हो जाती है और लेखक के व्यक्तित्व का महत्व उसकी विकासशीलता या साधना में है, जो उसे लगातार सामाजिक संदर्भ से जुड़ने और वैचारिक स्तर पर संघर्ष करने से प्राप्त होती है। इसी आधार पर फणीश्वर नाथ रेणु के संदर्भ में उनका मानना था कि रेणुका आविर्भाव एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है। उसी तरह हर लेखक की प्रतिभा एक निश्चित परिस्थिति और परंपरा की उपज होती है। लेखक की विशेषता उस परिस्थिति को ठीक से समझने और समझ कर बदलने में है। रेणु की विशेषता यही है कि उन्होंने मिथिला के ग्रामीण जीवन को औरों से अधिक अच्छी तरह समझा है और समझकर उसे साहित्य में बदल दिया है। प्रयोगवाद का समय मूल्यांकन करते हुए वे अपने निबंध कलात्मक सौंदर्य का आधार में कहते हैं कि प्रयोगों में सारा नया रूप विधान, नए रागात्मक संबंधों के नाम पर केवल समाज निरपेक्ष मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिक बीमारियों का सहानुभूतिपूर्ण और मोहक अलंकरण है। नामवर सिंह के इस कथन से उनकी आलोचनात्मक मेघा को समझा जा सकता है। उन्होंने अपने इस कथन में प्रयोगवाद की समस्त खामियों और विसंगतियों को स्पष्ट कर दिया है और इसीलिए वस्तु तत्व पर ध्यान केंद्रित करते हैं, क्योंकि साहित्य में वस्तु तत्व यथार्थ जगत के सत्य का पूर्ण और गहरा ज्ञान प्रदर्शित करता है। साहित्य के इतिहास लेखन में द्वंद्वात्मक प्रणाली के उपयोग पर उन्होंने जो विचार रखे हैं, उनसे न केवल दवन्द्वात्मक प्रणाली की सार्थकता को सिद्ध किया है बल्कि साहित्य और आलोचना को भी उपयोगी रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार द्वंद्वात्मक प्रणाली की पहली विशेषता है, किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य

प्रसंग में देखना। दूसरा, वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों को गतिशील, परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना तथा अंतिम जो कि आलोचना के लिए भी बेहद सार्थक है कि वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगति अथवा अंतर्विरोध को पहचानना।

नामवर सिंह के आलोचना संबंधी विचार और मान्यताएँ उनकी विभिन्न कृतियों, स्फुट निबंधों और वक्तव्यों में मिलते हैं। इन सभी में उन्होंने अपने समय की साहित्यिक मान्यताओं की मौलिक दृष्टि से पहचान की है। सन १९६४ में प्रकाशित उनकी कृति आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों में उस समय के सार्थक काव्य-धाराओं पर विवेकपूर्ण विचार किया गया है। इस कृति में छायावाद, रहस्यवाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद संबंधी विश्लेषण हैं। छायावादी काव्य सौंदर्य के संबंध में उनकी मान्यता है कि यह सौंदर्य व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना से उत्पन्न हुआ है और वह स्वाधीनता भी व्यक्ति के माध्यम से संपूर्ण समाज की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है। इस तरह नामवर सिंह ने छायावाद को अत्यंत व्यापक दृष्टिकोण से देखा छायावाद के स्थायी मूल्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि छायावाद का स्थायित्व उसके व्यक्तिवाद में नहीं, उसकी आत्मीयता में है; काल्पनिक उड़ान में नहीं, आत्म-प्रसार में है समाज-भीरुता में नहीं प्रकृति प्रेम में है प्रकृति पलायन में नहीं, नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा में है। आवेगपूर्ण गावोच्छवास में नहीं, संवेदनशीलता में है. अज्ञात की जिज्ञासा में नहीं, ज्ञान के प्रसार में है: आदर्श में नहीं, यथार्थ में है; कल्पना में नहीं, वास्तविकता में है; दृष्टिकोण में नहीं, दृष्टि में है; उक्ति वैचित्र्य में नहीं, अभिव्यंजना के प्रसार में है। इसी तरह रहस्यवाद के संबंध में अपनी मान्यता में उन्होंने छायावादी रहस्यवाद को न केवल मध्यकालीन हिंदी रहस्यवादी प्रवृत्ति बताया बल्कि यूरोपीय रहस्यवाद से भी उसे अलगाते हुए उसकी मौलिकता को सिद्ध किया। इस संबंध में उनका मानना है कि मध्ययुगीन संतो का रहस्यवाद जाति-प्रथा, ऊँच नीच के विचार पुरोहितों के अत्याचार, सामंती शोषण के विरुद्ध विद्रोह से जुड़ा है। जबकि यूरोप के रहस्यवाद पर उनका मानना है कि यह पूंजीवादी के हताश मध्यवर्ग की यथार्थ भीरु, प्रतिक्रियावादी विचारधारा से पोषित है। इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद वे छायावादी रहस्यवाद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भारत के दूसरे दशक का रहस्यवाद अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की जीवन दृष्टि का अंग है।

छायावाद और रहस्यवाद की तरह प्रगतिवाद की भी अत्यंत सार्थक और सकारात्मक व्याख्या नामवर सिंह ने अपने इस ग्रंथ में की है। उनकी दृष्टि में प्रगतिवाद का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरंतर विकास का इतिहास है, जो केवल राजनीतिक जागरण से आरंभ होकर क्रमश: जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर आदर्शवाद से आरंभ होकर क्रमशः यथार्थवाद और नग्न यथार्थवाद से आरंभ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थ की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

प्रगतिवाद पर भी विचार करते हुए उन्होंने प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में भेद को अनावश्यक माना है। क्योंकि जहाँ एक तरफ प्रगतिवाद एक निश्चित मतवाद से उभरी हुई धारा है, वहीं प्रगतिशील साहित्य का उदय किसी निश्चित मत से नहीं हुआ बल्कि यह निरंतर विकसित और परिवर्तित होते

रहने वाली काव्यधारा है जो सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ लगातार परिवर्तित होती रहती है। प्रयोगवाद पर विचार करते हुए इसी पुस्तक में उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि प्रयोगवाद का केंद्रबिंदु चरम व्यक्तिवाद है और इसे उन्होंने संकीर्ण दृष्टिकोण के रूप में देखा है। उनके अनुसार, यह चरम व्यक्तिवाद मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि के व्यक्तिगत असंतोष और जन जागरण से डरे हुए कवि की आत्मरक्षा की भावना से उद्भुत है और यह धारा विभिन्न राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक मान्यताओं के रूप में अपने संकीर्ण व्यक्तिवाद को ही अभिव्यक्त करती है। इस तरह उनके आलोचकीय निष्कर्ष, उनके संतुलित दृष्टिकोण और प्रांजल दृष्टि का परिचायक हैं।

'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ कृति उस समय की काव्यधाराओं के मूल्यांकन का अच्छा प्रयास है। इसके अतिरिक्त प्रयोगवादी कविता के बाद के काव्य परिदृश्य पर विचार करने के लिए उन्होंने दूसरी कृति 'कविता के नए प्रतिमान' की रचना की, जो १९६८ में प्रकाशित हुई। इस कृति में जहाँ एक तरफ 'तारसप्तक', 'कामायनी', 'उर्वशी' आदि कृतियों और छायावादोत्तर कविता की उपलब्धियों को लेकर पिछले दो दशकों में जो चर्चाएँ हुई थी, उनकी पड़ताल की गई है। वहीं दूसरी तरफ, नए प्रतिमान के नाम पर 'अनुभूति की प्रामाणिकता, 'द्वंद्व', 'तनाव', 'विसंगति', 'विडंबना' जैसे आलोचनात्मक पर्दो की उपयोगिता का भी परीक्षण किया गया है। अनुभूति की प्रमाणिकता के संदर्भ में वे मुक्तिबोध की मान्यता से तादात्म्य रखते हैं, जिसके अनुसार अनुभूति की प्रामाणिकता वहाँ होगी, जहाँ वस्तु का वस्तु मूलक आकलन करते हुए लेखक इस आकलन के आधार पर वस्तु तत्व के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। और इस रूप में अनुभूति की प्रामाणिकता नामवर सिंह के अनुसार आत्मनिष्ठता के दल-दल से निकलकर वस्तुनिष्ठता की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाती है। इस विश्लेषण से एक बात और स्पष्ट होती है कि वस्तु तत्व का सही-सही विश्लेषण कविता को व्यक्तिपरक होने से बचाता है। इसी तरह इस कृति में उन्होंने माना है कि कविता में द्वंद्व और संघर्ष के मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं। इसी प्रकार विसंगति और विडंबना के सूत्रों पर विचार करते हुए उनका मानना है कि हिंदी कविता के प्रतिमानों के रूप में इन्हें अधिक मान्यता न मिलने का कारण ऐसी कविताओं में अतिशय आक्रामकता है। इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद के नवीन परिदृश्य में कविता की स्थिति पर इस ग्रंथ में नामवर सिंह ने विचार और विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

काव्य समीक्षा पर उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त हिंदी गद्य विधा 'कहानी पर उनकी अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक 'कहानी: नई कहानी सन १९६५ में प्रकाशित हुई इसमें उनके द्वारा सन १९५८ से ६५ के बीच लिखे गए कहानी समीक्षा संबंधी निबंध संग्रहित हैं। यह पुस्तक इस दृष्टि से अत्यंत उल्लेखनीय है कि इसमें हिंदी गद्य विधाओं से संबंधित एक व्यापक समीक्षा पद्धति पर चर्चा की गई है। कहानी के संदर्भ में नामवर सिंह ने इस कृति में हिंदी कहानी के विकास के दो बिंदु चिन्हित किए एक तो स्वतंत्रता के बाद की कहानियाँ और दूसरा सन १९६० के आसपास की कहानियाँ इन दोनों ही दौर की कहानियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने दोनों में भावबोध और संवेदनागत अंतरों को स्पष्ट किया है, जिसके लिए उन्होंने परिवर्तित सामाजिक संदर्भो को उत्तरदायी माना है। वे मानते हैं कि इस दौर

की कहानियाँ अपने समय के उपेक्षितों के प्रति आत्मीय लगाव की कहानियाँ है। नई कहानी संज्ञा से अभिहित कहानी रूप और नए कहानीकारों के संदर्भ में नामवर सिंह कहते हैं कि, 'क्योंकि नए कहानीकार किसी पूर्व निर्धारित जीवन दर्शन द्वारा निर्दिष्ट सामाजिक दायित्व के ही आधार पर रचना में सामाजिकता को व्यक्त करने की कोशिश करते रहे हैं। इस दृष्टि से यह तो सत्य है कि प्रगतिवादी दौर की तरह इन कहानियों में सर्वहारा के चित्र नहीं है और न वैसी प्रखर वर्ग चेतना ही है किंतु व्यापक रूप से आज के उपेक्षित और कल के उपेक्षितों के साथ आत्मीय लगाव अवश्य है। किसी लेखक में कम तो किसी में ज्यादा क्योंकि ज्यादातर लेखक शहरी और गांव के निम्न मध्यवर्ग की उपज है और हर लेखक का जोर साहित्य रचना में निजी अनुभव पर है। इसलिए रचनाओं की विषय वस्तु के साथ ही दृष्टिकोण का भी निम्न मध्यवर्गीय सामाजिक स्थिति की सीमा में सीमित हो जाना अनिवार्य है। वैसे आज समाज में इस वर्ग की जो स्थिति और ऐतिहासिक भूमिका है, उसको देखते हुए इस वर्ग का सचेत लेखक प्रखर आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि कर सकता है। इस तरह नामवर सिंह ने अपनी इस कृति में नई कहानी और नए कहानीकारों की अभिव्यक्ति सामर्थ्य पर सटीक विचार व्यक्त किए हैं।

यह स्वयंसिद्ध है कि नामवर सिंह ने हिंदी समीक्षा को अपनी अवधारणाओं से अत्यंत समृद्ध किया है। उनकी विशिष्टता इस बात में है कि वे समय विशेष के मूल्यांकन को बाद की परिस्थितियों या अवधारणाओं के अनुसार संशोधित करने की उदारता रखते थे और इस रूप में उन्होंने आगे चलकर अपनी कई अवधारणाओं में परिवर्तन भी किया। अपने समय के साहित्य का जितना तथ्यपरक और सटीक मूल्यांकन उनके द्वारा किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए वे स्वातंत्र्योत्तर आलोचना के शिखर पुरुष माने जाते हैं।

६.५ सारांश

वस्तुतः नामवर सिंह स्वतंत्रता के बाद विकसित हुई हिंदी आलोचना की पीढ़ी के सबसे प्रभावशाली आलोचक और वक्ता हैं। उन्होंने अपने समसामयिक साहित्यिक प्रश्नों पर निष्कर्षपूर्ण ढंग से विचार किया है। उनका दृष्टिकोण बेहद संतुलित और सधा हुआ है और उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन स्वस्थ दृष्टि का परिचायक है। वे भले ही मार्क्सवादी विचारधारा से गहरे तक संपृक्त रहे हैं परंतु उन्होंने अपनी वैचारिक आस्थाओं को समीक्षा के प्रतिमानों पर थोपने का अनर्थक प्रयास नहीं किया है बल्कि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने अन्य समीक्षा सिद्धांतों और विचारों को भी उतना ही महत्व दिया है। समय-समय पर लगने वाले आक्षेपों के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि यह आक्षेप उनकी दृष्टि को ठीक से न समझ पाने का परिणाम हैं। उनके द्वारा बार-बार अपने समीक्षा निष्कर्षो को बदले जाने के संबंध में भी यही कहा जा सकता है कि यह सभी आक्षेप एकांगी दृष्टिकोण का परिणाम है। कोई भी समीक्षक या विचारक आने वाली स्थितियों और परिस्थितियों के संदर्भ में अपने विचारों का पुर्न विश्लेषण लगातार करता रहता है। यही वह महत्वपूर्ण कारण है, जो नामवर सिंह की समीक्षा में देखने को मिलता है, जिसे लेकर अन्य विद्वान उन पर आक्षेप लगाते हैं। अंततः

munotes.in

मौलिक और प्रखर मेघा के धनी डॉ. नामवर सिंह अपने स्वस्थ दृष्टिकोण और प्रांजल समीक्षा निष्कर्ष के लिए हिंदी आलोचना में सदैव महत्वपूर्ण बने रहेंगे।

६.६ लघुत्तरीय प्रश्न

१. नामवर सिंह ने किस काव्यधारा को चरम व्यक्तिवाद का परिणाम माना है?

२. पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज किस साहित्यकार को केंद्र में रखकर लिखी गई है ?

३. समीक्षा कृति आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रकाशन वर्ष है ?

४. किस पत्रिका का संपादन] नामवर सिंह के द्वारा किया गया ?

६.७ बोध प्रश्न

१. डॉ. नामवर सिंह की समीक्षा संबंधी मान्यताओं का परीक्षण कीजिए ?

२. हिन्दी आलोचना के विकास में डॉ. नामवर सिंह के योगदान का मूल्यांकन कीजिए ?

६.८ अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

१. आधुनिकता और हिन्दी आलोचना - इंदनाथ मदान

२. हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ - डॉ. निर्मला जैन

३. हिन्दी आलोचना का विकास - मधुरेश

४. हिन्दी आलोचना दृष्टि और प्रवृत्तियाँ - मनोज पाण्डेय

******

munotes.in

इकाई : ३

७

सिध्दांत और वाद

अस्तित्ववाद

इकाई की रुपरेखा

७.० उद्देश्य
७.१ प्रस्तावना
७.२ अस्तित्ववाद की अवधारणा
७.३ अस्तित्ववाद की परिभाषा
७.४ अस्तित्ववाद के विचारक
७.५ अस्तित्ववाद के मूल तत्व
७. ६ अस्तित्ववाद और साहित्य आलोचना
७.७ सारांश
७.८ दीर्घोत्तरी प्रश्न
७.९ लघुत्तरीय प्रश्न
७.१० संदर्भ पुस्तकें

७.० उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप अस्तित्ववाद की मूल अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- अस्तित्ववाद की उत्पत्ति के विषय में जान पाएँगे।
- अस्तित्ववादी विचारकों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- साहित्य में अस्तित्वाद के उपयोग की पद्धति जान पाएँगे।

७.१ प्रस्तावना

अस्तित्ववाद मूल रूप से दर्शन का सिद्धांत है। लेकिन अस्तित्ववाद ने साहित्य सृजन तथा आलोचना सिद्धांतों को भी प्रभावित किया है। अस्तित्ववाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सामने विभिन्न संभावनाएँ या रास्ते हैं। मनुष्य इन संभावनाओं या रास्तों में से एक या अधिक का चुनाव करता है। इस चुनाव के लिए मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है। चुनाव की स्वतंत्रता के परिणामस्वरुप मनुष्य अपने अस्तित्व को न केवल प्रमाणित करता है बल्कि प्रामाणिक भी बनाता

है। चुनाव के स्वतंत्र प्रयोग के कारण उसके सार का निर्माण होता है। अर्थात् सार से पूर्व अस्तित्व है। अस्तित्व के पूर्ववर्ती होने के कारण इसे 'अस्तित्ववाद' की संज्ञा दी गई है। अस्तित्ववाद मानव को परिभाषित नहीं करता क्योंकि मानव की कोई आदि-मूल चिरंतन या शाश्वत प्रवृत्ति नहीं।मनुष्य उसके सिवा कुछ नहीं जो अपने स्वतंत्र कर्म तथा चुनाव द्वारा बनता है। कर्म से ही जीवन को अर्थ मिलता है अर्थात् कर्म स्वर्ग और नरक का निर्माता है। अस्तित्ववाद के केंद्र में जीवन की निस्सारता का दर्शन है।संक्षेप में, अस्तित्ववाद का अर्थ है जिसका संबंध अस्तित्व से है। अर्थात् जिसका मूल सरोकार मानव अस्तित्व, मानव स्थिति, संसार में मनुष्य का मकान तथा प्रयोजन और मानवीय संबंधों की उपस्थिति और अनुपस्थिति से है।

७.२ अस्तित्ववाद की अवधारणा

उन्नीसवीं के उत्तरार्ध में यूरोप के दर्शन में अस्तित्ववाद एक महत्वपूर्ण विमर्श रहा है। लेकिन साहित्य में इसका आगमन बीसवी शती के तीसरे-चौथे दशक से माना जाता है। दूसरे महायुद्ध के दौरान और उसके पश्चात कुछ वर्षों तक यह बहुत चर्चित रहा। साहित्य में अस्तित्ववाद के प्रभाव का कारण मानव की भयावह विषम स्थिति थी जो फासीवाद के रक्तरंजित आतंक, साम्यवाद से मोहभंग तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की विभिषिका और अणु विस्फोटों के मानव संहार से उत्पन्न हुई थी। चारों ओर निराशा एवं निस्सारता की लहर फैल गई। ऐसा दिखाई देने लगा कि मनुष्य किसी अंधी सुरंग में फँस गया है।फ्रांज काफ्फा के शब्दों में, "मैं एक ऐसी काल कोठरी में कैद हूँ जिसके ना दरवाजे हैं और न खिड़कियाँ और बाहर निकलने के तमाम रास्ते बंद है।"

अस्तित्ववादी दर्शन की दो मुख्य धाराएँ हैं- ईश्वरवादी अस्तित्ववाद और अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद, ईश्वरवादी अस्तित्ववाद अर्थात् आध्यात्मिक, धार्मिक, पराभौतिक इस धारा में ईसाईयत का प्रभुत्व है। इस धारा में ईश्वर केंद्र में है। मनुष्य के मीमांसा ईश्वर के संदर्भ में ही संभव है। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के अनुसार इस संसार में निरर्थक जीवन को सार्थक तथा सारपूर्ण बनाने के लिए निष्ठा तथा ईश्वर में आस्था अनिवार्य है। मनुष्य की गति ईश्वर की शरण बिना संभव नहीं। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रवर्तकों में सोरेन कीर्केगार्द तथा गेब्रियल मार्शल के नाम उल्लेखनीय हैं। अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद में मनुष्य संसार में निस्सहाय है। वह बिल्कुल अकेला है। फ्रेडरिक नित्शे के अनुसार ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है। ज्याँ पाल सार्त्र के कथनानुसार संघर्ष में ही मानव की गति है। जब ईश्वर ही नहीं तो मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रमुख प्रवर्तकों में मार्टिन हेडेगर और ज्याँ पाल सार्त्र शामिल हैं।

अस्तित्ववाद एक ऐसी विचारधारा है जो उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान सामने आयी। इसके मूल में आधुनिकता की यह दृष्टि निहित थी कि एक मनुष्य सोचता, विचारता, अनुभव करता, जीवन जीता अकेला है। ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मूलत: यह मानववाद है। उनका कथन है कि, " हमारे लिए 'अस्तित्ववाद' शब्द का अर्थ एक ऐसा सिद्धांत है जो मानव जीवन को संभव बनाता है और जो यह मानता है कि प्रत्येक सत्य और कर्म का संबंध परिवेश तथा उसकी आत्मपरकता में

निहित होता है।" आत्मपरकता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि, "आत्मपरकता का संबंध व्यक्ति स्वातंत्र्य से है। अर्थात् मनुष्य इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जैसा खुद को बनाता है या कि वह स्वयं का निर्माण करता है। यही अस्तित्ववाद का पहला सिद्धांत है। यही वह है जिसे लोग आत्मपरकता कहकर हमारी निंदा करते हैं।परंतु हम इसके द्वारा यह अर्थ लेते हैं कि मनुष्य की गरिमा एक पत्थर और मेज से अधिक है।" मनुष्य की गरिमा को स्थापित करता यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि,"अस्तित्व सत्व से पूर्व आता है।" यहाँ अस्तित्व का अर्थ मानव अस्तित्व से है। जबकि सत्व से तात्पर्य मनुष्य जीवन में कुछ होने बनने की संभावना से है।

अस्तित्ववाद के चिंतको का मानना है कि अस्तित्व का अनुभव प्राय: अत्यंत दुख, पीड़ा, यातना, मृत्यु जैसी स्थितियों के साक्षात् से होता है। अस्तित्ववादी के अनुसार दुनिया में घटित होने वाली घटनाएँ संयोग पर आधारित हैं। यहाँ कोई कार्य-कारण संबंध नहीं दिखता।अत: इस उलजुलूल दुनिया में जीने का कोई अर्थ नहीं क्योंकि यहाँ कोई ईश्वर नहीं जो मनुष्य के व्यवहार को, कार्य को वैध ठहरा सके। अत: मृत्यु, हत्या,अपराध आदि को भी ये चिंतक गलत नहीं मानते। इसके बावजूद अस्तित्ववादी इसे निष्क्रियता का दर्शन नहीं मानते।उनका मानना है कि मनुष्य अपना निर्माता खुद है।वह चयन के जरिए अपनी मनोव्यथा का अन्त कर सकता है।साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य को अभी निर्धारित होना बाकी है।

अस्तित्ववाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसमे व्यक्ति अपने अस्तित्व को विश्वपटल पर स्पष्ट रुप से रखने का प्रयास करता है। अस्तित्ववाद मुख्य रुप से इस प्रश्न में रुचि रखता है कि "मनुष्य क्या है?" प्रो.ब्लैकहोम ने इसे सत्तावाद या सद्वाद का दर्शन माना उनका कथन है कि -"अस्तित्ववाद सद्वाद या सत्तावद का दर्शन है। प्रमाणित तथा स्वीकार करने और सत्ता का विचार करने तथा तर्क करने के प्रयास को न मानने का दर्शन है।

७.३ अस्तित्ववाद की परिभाषा

डॉ.गणपतिचंद्र गुप्त अस्तित्ववाद को परिभाषित करते हुए लिखते हैं- "जब उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के आविष्कारों एवं सिद्धांतों के प्रचलन के कारण मानव जीवन पर वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा, जिसके सम्मुख व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतंत्रता उपेक्षित होने लगी,तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप एक ऐसे वाद का विकास हुआ, जो कि वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व देता हुआ वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का तीव्र विरोध करता है। यही वाद दर्शन एवं कला के क्षेत्र में अस्तित्ववाद के नाम से प्रसिद्ध है।"अस्तित्ववाद को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं- "अस्तित्ववाद दृष्टिकोण है,वस्तुत: उन परंपरागत तर्क संगत,दार्शनिक मतवादों के विरूद्ध एक विद्रोह है जो विचारों अथवा पदार्थ-जगत की तर्कसंगत व्याख्या करते हैं तथा मानवीय सत्ता की समस्या की उपेक्षा करते हैं। वह एक तर्कसंगत दार्शनिक मतवाद की अपेक्षा एक दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतीक अधिक है।"

munotes.in

ज्याँ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद को मानववाद माना। उनका मानना था कि मनुष्य स्वयं का निर्माता है। वह जैसा स्वयं को बनाता है उसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। 'अस्तित्ववाद और मानववाद' में वे लिखते हैं- "सीधी बात यह है कि मनुष्य है। वह अपने बारे में जैसा सोचता है, वैसा नहीं होता। बल्कि वैसा होता है, जैसा वह संकल्प करता है, अपने होने के बाद ही वह अपने बारे में सोचता है- वैसे ही अपने अस्तित्व की ओर बढ़ने के बाद ही वह अपने बारे में संकल्प करता है। मनुष्य इसके अतिरिक्त कुछ भी नही है जैसा खुद को बनाता है कि वह स्वयं का निर्माण करता है। यही अस्तित्ववाद का पहला सिद्धांत है।"

प्रभा खेतान के अनुसार,"अस्तित्व का अर्थ हुआ सतत प्रकट होते रहना, निरंतर आविर्भावित होते रहना और अनुभूति के साथ उभरते रहना। इस अर्थ में केवल आदमी ही अस्तित्ववान होता है और केवल आदमी को ही सतत अनुभूति होती रहती है कि वह अपने आप से बाहर आ रहा है और अपनी परिस्थितियों का अतिक्रमण कर रहा है।अत: इस विचार के केंद्र में व्यक्ति स्वयं है।" प्रभा खेतान अस्तित्व का अर्थ सतत प्रकट होने के रूप में स्वीकारती हैं तथा व्यक्ति की सत्ता को ही अस्तित्ववान मानती हैं।

डॉ.श्यामसुंदर मिश्र के अनुसार, "अस्तित्ववाद अधुनातन जीवन के विभिन्न निषेधों सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों, यांत्रिकता के बीच आबध्द व्यक्ति-इकाई की आकुल चिन्ता का वैज्ञानिक और समीचीन विश्लेषण है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्तित्ववाद की कोई भी एक सर्वसमावेशक परिभाषा नहीं हैं। अस्तित्ववाद का उद्देश्य मानव को अस्तित्व के प्रश्नों से परिचित कराकर उसे अलगाव से मुक्त कराना है। आज के समय में जनमानस में अलगाव की भावना गहरे पैठती जा रही है। नागरी भीड़- भाड़ में मनुष्य मानवीय प्रकृति से दूर भटक रहा है। इस हालात में मनुष्य का भविष्य निराशामय है। अस्तित्ववादी विचारधारा मानव जीवन को समझने के लिए तर्क प्रस्तुत करती है। इस धारा का आरंभ मनुष्य के विवश या निरूपाय स्थिति से होता है। मानव मुक्ति में अस्तित्ववाद की अटूट श्रद्धा है।

७.४ अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक

अस्तित्ववाद का आरंभ जर्मनी से माना जाता हैं। इस दर्शन को विकसित करने में सोरेन कीर्केगार्द, ग्रेबियल मार्शल, फ्रेडरिक नीत्शे, मार्टिन हेडेगर, कार्ल जैस्पर्स,अल्बेयर कामू व ज्याँ पाल सार्त्र का नाम प्रमुख हैं।इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

- **सोरेन कीर्केगार्द-**

  कीर्केगार्द को अस्तित्ववाद का प्रवर्तक माना जाता है। डेन्मार्क में ५ मई,१८१३ ई. में इनका जन्म हुआ। इन्होंने ईश्वर की सत्ता को माना है लेकिन श्रद्धा को मनुष्य की आंतरिक वस्तु स्वीकार किया। उन्होंने निराशा को भी महत्त्व दिया। इनके दर्शन में आत्मनिष्ठा भी विद्यमान है। मनुष्य के अकेलेपन को सबसे पहले इन्होंने ही अनुभव किया।

- **फ्रेडरिक नीत्शे-**

नीत्शे ने अपने प्रसिद्ध वाक्य 'ईश्वर की मृत्यु हो गयी है' के द्वारा नवीन जीवन मूल्यों की अपेक्षा की है। इन्हें अतर्कवादी दार्शनिक भी कहा गया है। उन्होंने अतिमानव की कल्पना की जो समाज में पाशविक वृत्तियों का दमन कर मानवता को पुर्नस्थापित करे या मनुष्य को सबल बनाए। नाजियो ने उनको गलत अर्थ में ग्रहण किया।व्यक्ति के दु:ख, संतोष का चित्रण, मृत्यु का स्वागत, समाजवाद व हीगेल की मान्यताओं का विरोध भी नीत्शे ने किया।

- **मार्टिन हेडेगर-**

हेडेगर स्वयं को अस्तित्ववादी नहीं मानते। उन्होंने मनुष्य का ही ऐतिहासिक अस्तित्व माना। संत्रास, मृत्यु संबंधी चर्चा व शून्य को महत्व प्रदान किया। मृत्यु को वह अर्थपूर्ण जीवन की कुँजी मानते हैं। उन्होंने व्यक्ति के साथ उसकी भाषा व जगत को भी महत्व दिया। उन्होंने अस्तित्व का अर्थ संभावना से लिया। चुनाव की स्वतंत्रता और इस स्वतंत्रता की पहचान को अस्तित्व का सार तत्व माना। हेडेगर को 'जीवन विद्या का दार्शनिक' कहा जाता है।

- **कार्ल जैस्पर्स-**

कार्ल जैस्पर्स को आधुनिक अस्तित्ववाद का प्रवर्तक माना गया। साथ ही उन्हें 'तर्क का दार्शनिक' भी माना जाता है। उन्होंने व्यक्ति के आंतरिक अस्तित्व को ही स्वतंत्र रूप में स्वीकार किया है। मनुष्य को बौद्धिक, भौतिक व ऐतिहासिक बंधनों में बँधा हुआ माना तथा कर्म को महत्व दिया।

- **ग्रेब्रियल मार्शल-**

इनका ईश्वर में विश्वास था।अस्तित्व व आधिपत्य के बीच द्वंद्व दर्शन का मूल आधार रहा। इन्होंने आशा को महत्व दिया। चुनौती, निर्णय,उत्तरदायित्व व मूल्यांकन को मानव अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण माना।

- **अल्बेयर कामू-**

कामू ने स्वतंत्रता, भाईचारे व सौहार्द को महत्त्व दिया।उन्हें विसंगति का दार्शनिक माना गया। उन्होंने विसंगति से बचने के लिए विद्रोह जरूरी माना है। कामू ने मार्क्सवाद का समर्थन किया। वह मानवीय मूल्यों, नैतिक मूल्यों,कर्म में विश्वास करते थे। इतिहास को सृजित करने की बात भी वह स्वीकारते हैं। अलगाव व तानाशाही का उन्होंने विरोध किया। उन्हें सन् १९५७ में 'नोबेल पुरस्कार' मिला। मानवीय गरिमा को वह श्रेष्ठ मानते थे।अहिंसा, शांति की बात भी कामू ने उठाई है।

- **ज्याँ पाल सार्त्र-**

ज्याँ पाल सार्त्र का नाम अस्तित्ववादियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सार्त्र का जन्म पेरिस में १९०५ ई. में हुआ था। सार्त्र अस्तित्व को सार से पहले मानते हैं। उन्होंने स्वतंत्रता,कर्म को

munotes.in

महत्ता प्रदान की। उनका मानना था कि व्यक्ति वही है जैसा वह स्वयं को बनाता है। मृत्यु को सभी संभावनाओं का अंत माना। सार्त्र ईश्वर को अस्वीकार करते हैं।उनका मानना था कि ईश्वर के होने न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता। कामू की तरह सार्त्र भी मार्क्सवाद के समर्थक थे। इसके साथ ही उन्होंने मनोविश्लेषण को भी महत्व दिया। इसके अतिरिक्त निराशा, अकेलेपन, त्रासदी, अलगाव, बाजारवाद, संवेग, चेतना व इगो को उन्होंने विश्लेषित किया। सार्त्र ने नोबेल पुरस्कार लेना अस्वीकार कर दिया था। जनहित के समर्थक इस लेखक ने नोबेल पुरस्कार को बुर्जुआवादी संस्था का ही रूप माना।

- **दोस्तोएवस्की-**

  दोस्तोएवस्की में स्वतंत्रता,अकेलापन व वैयक्तिकता देखने को मिलती है। वह समाजवाद के समर्थक थे। उन्होंने क्रांति को 'अराजकता' के समान माना।

- **फ्रांज काफ्का-**

  इनका साहित्य महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता, संघर्ष, अलगाव व प्रेम का चित्रण इनके साहित्य में हुआ है।ये अलगाव का विरोध करते हैं।

इसके अलावा गेब्युल उनामानो, रूउल्फ बुल्टमेन, खोखे ऑस्त्रेगा आदि को भी अस्तित्ववादी चिंतकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

७.५ अस्तित्ववाद के मूल तत्व

१. मानव रचना:

मानव रचना के मूल में कोई प्रयोजन नहीं। वह स्वयं जो निर्धारित करता है उसके अलावा बिना किसी प्रयोजन के उसकी इच्छा के बगैर फेंक दिया गया है। जो वह स्वयं निश्चित करता है, सिवाय उस उद्देश्य गंतव्य के, वह इस संसार में भटकने के लिए विवश है।वह किसी सहारे या सहायता के बगैर निरंतर गर्दिश में हैं।

२. मानव प्रकृति:

मानव प्रकृति एक अर्थहीन शब्द है। मानव की कोई प्रकृति नहीं केवल इतिहास है। मानव प्रकृति को स्वीकार करने का अर्थ है दैवी शक्ति में विश्वास। अर्थात् ऐसी परम शक्ति को स्वीकार करना जो मनुष्य के अस्तित्व से पूर्व पैदा हुई है या मौजूद थी।

३. मानव आदतें:

मानव प्रकृति के बने बनाए या पूर्व निश्चित नियम नहीं होते बल्कि कुछ आदतें हैं। इनमें से कोई भी किसी दिन बदल सकती है। यह विचार इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि कोई ईश्वर नहीं, कोई नस्ल या जाति नहीं, कोई आदिम पाप नहीं, कोई परिवेश नहीं, कोई पिता नहीं, कोई माता नहीं, कोई शिक्षक नहीं, कोई प्रवृत्ति,रुझान या ग्रंथि नहीं। बचपन का प्रशिक्षण

नहीं। मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य अपनी संभावनाओं तथा जिम्मेदारियों से घिरा हुआ इस संसार में धकेल दिया गया है।

४. मानव स्थिति:

यह वह स्थिति है जिसमें मनुष्य अलगाव और एकाकीपन का जीवन व्यतीत करने पर विवश है। हेडेगर का कथन है, "मनुष्य इस संसार में अकेला, थका हुआ, निराश और भयभीत है।" मानव की यह निरुद्देश, प्रयोजनहीन, अलगाव तथा संत्रास स्थिति इस दुनिया को विसंगतियों का रंगमंच बना देती है।

५. मानव नियति:

अस्तित्ववाद ने यह प्रश्न किया है की मानव की इस विषम परिस्थिति के लिए कौन जिम्मेदार है- ईश्वर, धर्म, राज्य, व्यवस्था, समाज, सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता, राजनीति, विज्ञान या स्वयं मनुष्य? अस्तित्ववाद के अनुसार मानव अपनी विषम स्थिति के लिए स्वयं उत्तरदायी है। याद रहे मार्क्सवाद के तहत मनुष्य भौतिक- ऐतिहासिक नियतिवाद का गुलाम है।सिग्मंड फ्रायड के अनुसार व अवचेतन यौन प्रवृत्ति का दास है। विभिन्न धर्मों के अनुयायी इसे ईश्वर या किसी दैवी शक्ति द्वारा परिचालित मानते हैं।

६. मानव चुनाव तथा स्वतंत्रता:

अस्तित्ववाद में मनुष्य अपने कर्म तथा निर्णय के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। इस कर्म तथा निर्णय के लिए उसे चुनाव करना पड़ता है। चुनाव के लिए स्वतंत्रता मूल शर्त है। ईश्वर, राज्य, या कोई अन्य व्यवस्था या व्यक्ति उसके लिए चुनाव नहीं कर सकता। इस स्वतंत्रता के बोझ से भयभीत होकर वह धर्म, राज्य या नैतिकता की शरण लेता है। अर्थात् स्वतंत्रता का बोझ सहन नहीं कर पाने के कारण वह पलायन करता है।

७. चिंता एवं संत्रास:

चुनाव की स्वतंत्रता की स्थिति चिंता तथा संत्रास उत्पन्न करती है। मूल जर्मन शब्द 'ऐंग्स्ट' में मानसिक परिताप अर्थात् चिंता और भय अर्थात् संत्रास दोनों शामिल है।

८. प्रामाणिक व्यक्ति तथा जीवन:

सच्चा व्यक्ति वही है जो स्वतंत्रता के बोझ को स्वीकार कर लेता है। जो चुनाव करने में संकोच नहीं करता।जो स्वेच्छा से निर्णय लेता है। जो इस निर्णय के संताप के लिए तत्पर है। जो अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है और इसकी सजा भुगतने के लिए तैयार है। ऐसा व्यक्ति प्रामाणिक व्यक्ति है। अन्य लोग झूठी आस्था वाले होते हैं।

९. मूल्य का प्रश्न:

प्रत्येक व्यक्ति स्थितियों के अलग-अलग होने के बावजूद अलग-अलग चुनाव करता है। अत: हर व्यक्ति का अर्थ-बोध दूसरे व्यक्ति के अर्थ-बोध से भिन्न होता है। इसलिए कोई व्यापक या सामान्य मूल्य या अर्थ संभव नहीं। यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है कि क्या हम सही चुनाव

munotes.in

करते हैं या हम इसके योग्य है या नहीं। अस्तित्ववाद का उत्तर है कि मानव की मानवता चुनाव की अच्छाई में नहीं बल्कि सच्चाई में है। मूल्य का प्रश्न चुनाव के बाद पैदा होता है। क्योंकि सार अस्तित्व के बाद है। अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है।

अस्तित्ववाद के इन मूल तत्वों से स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद के अनुसार ऐसे मनुष्य का ही अस्तित्व है जो चुनाव करता है, स्वतंत्रता का प्रयोग करता है, चिंता तथा संत्रास से गुजरता है। अपने संकल्प तथा कर्म के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार करता है। और हर मूल्य चुकाने के लिए तैयार है। यही उसके अस्तित्व की शर्ते हैं।शेष सब अ-मानव है उनका कोई अस्तित्व नहीं अस्तित्व के बगैर कोई सार नहीं अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती होता है।अत: पूर्व निश्चित मूल्य या आदर्श या कोई बाह्य शक्ति (ईश्वर सहित) मनुष्य के अस्तित्व का निर्माण नहीं करती।

यह वह विसंगति है जिसमें मनुष्य अपनी स्वतंत्रता और चुनाव द्वारा मनुष्य होने यानी अस्तित्व को अर्थ देता है।जीवन की स्थितियाँ मनुष्य को ऐसी अवस्था में ले आती है कि उसे अपने अनुभव की सीमाएँ और दिशाएँ निर्धारित करनी पड़ती है।उसे अपनी समस्त क्षमता तथा शक्ति प्रयोग में लाना पड़ता है।इस संकट की स्थिति के अनिश्चितता के कारण उसे अपने अस्तित्व की गहराई का बोध होता है।उसका अस्तित्व उसका अपना संकल्प है।

७.६ अस्तित्ववाद और साहित्य आलोचना

अस्तित्ववाद विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति या आलोचना सिद्धांत नहीं।लेकिन इसने साहित्य सृजन तथा समालोचना पद्धतियों को अत्यधिक प्रभावित किया है।ज्याँ पाल सार्त्र, सिमोन दी बिउआ और अल्बेयर कामू ने अस्तित्ववाद से प्रभावित होकर कई श्रेष्ठ कृतियाँ साहित्य को दी हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य लेखकों को भी इस धारा में सम्पृक्त किया गया है।जिनमें फियोडॉर दोस्तोएवस्की और फ्रांज काफ्का का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।अस्तित्ववादी लेखक अपने-अपने तौर पर जिन दार्शनिकों के चिंतन से प्रभावित हुए हुए हैं उनमें महत्वपूर्ण नाम हैं- सोरेन कीर्केगार्द, फ्रेडरिक नीत्शे, गेब्युल उनामानो, खोखे ऑस्त्रेगा, मार्टिन हेडेगर, कार्ल जैस्पर्स, रउल्फ बुल्टमेन,गेब्रियल मार्शल तथा पाल तिलिश।

अस्तित्ववाद का प्रभाव रंगमंच पर भी गहरा पड़ा है।यहाँ तक कि रंगमंच का एक नया प्रयोगवादी रूप लोकप्रिय हो गया है यह है- विसंगति का रंगमंच द थियेटर आफ ऐब्सर्ड इस रंगमंच को 'उऊलजुलूल का रंगमंच' और 'एण्टी-थियेटर' भी कहा जाता है।

ऐब्सर्ड से क्या तात्पर्य है?ऐब्सर्ड का अर्थ है-ऊलजलूल,अर्थहीन और निरुद्देश्य। यूजीन आयोनेस्को के अनुसार ऐब्सर्ड वह है जिसका कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं। मनुष्य अपनी धार्मिक,आध्यात्मिक और अनुभवातीत जड़ों से कट गया है। वह परास्त हो चुका है।उसके समस्त क्रियाकलाप अर्थ-शून्य और विसंगतिपूर्ण है। इस हास्यास्पद स्थिति को त्रासदी-कामदी (ट्रेजेडी- कॉमेडी)द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। क्योंकि मनुष्य अपने परिवेश में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता।

पराभौतिक अनुभव में अनास्था के कारण वह अपने को इस निरर्थक संसार में अजनबी महसूस करता है ।उसका अन्य प्राणियों से संवाद सूत्र टूट जाता है ।सेम्युल बैकेट का नाटक 'वेटिंग फॉर गोदो' इस संवाद-हीनता की निराशा को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करता है । इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण ऐब्सर्ड नाटककारों में जां जैने तथा हैरब्ड पिंटर उल्लेखनीय हैं।

मार्टिन एजलिन के कथनानुसार ऐब्सर्ड का रंगमंच व्यक्ति को मानव स्थिति, जैसी कि वह है का सामना करने के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है ।ताकि ऐसे भ्रम को दूर किया जा सके जो उसकी निराशा का कारण बनते हैं। मनुष्य का महत्व इसी में है कि वह समस्त निरर्थक पहलुओं का सामना बिना भय और भ्रम के स्वतंत्रतापूर्वक कर सके-उस पर हँस सके।

नव अस्तित्ववाद पर आधारित साहित्य आलोचना साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन इस दृष्टि से करती है कि वह जीवन की कला को किस हद तक मनुष्य के लिए उपयोगी बनाती है ।और जीवन की अर्थवत्ता को किस हद तक स्थापित करती है ।इसके साथ ही मनुष्य की सार्थक तौर पर जिंदा रहने की कामना को तीव्र करती है।

७.७ सारांश

अस्तित्ववाद मूल रूप से दर्शन की एक विचार पद्धति है ।लेकिन इसने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साहित्य सृजन तथा आलोचना सिद्धांतों को भी प्रभावित किया है ।अस्तित्ववाद अस्तित्व से चुनाव के सिद्धांत तक पहुँचता है और फिर चुनाव से स्वतंत्रता के विचार तक चुनाव की स्वतंत्रता के प्रयोग से सार का निर्माण होता है। अर्थात् सार से पूर्व अस्तित्व है ।मनुष्य चुनाव तथा स्वतंत्रता की प्रक्रिया में चिंता और भय का अनुभव करता है ।और अपने उत्तरदायित्व के कारण पाप अनुभूति से ग्रस्त होता है ।लेकिन वह विसंगति और आत्मबोध का अनुभव भी करता है ।अलगाव एवं एकाकीपन मानव नियति है क्योंकि वह इस संसार में बिना किसी सहारे के फेंक दिया गया है ।सार्त्र के अनुसार वह इस विषम अवस्था से सामाजिक सक्रियता तथा प्रतिबद्धता से निजात पा सकता है ।कामू इस सक्रियता को विद्रोह के रूप में देखते हैं क्योंकि मनुष्य की यह प्रक्रिया सामाजिक सक्रियता से प्रतिफलित होती है। इसलिए वह अलगाव, एकाकीपन तथा अजनबीपन का सशक्त साक्षात्कार कर सकता है। अस्तित्ववाद इस विचार को भी रेखांकित करता है कि मनुष्य अपने स्वतंत्रता को छोड़ने के लिए स्वतंत्र नहीं यानी वह स्वतंत्र रहने तथा स्वतंत्र कर्म करने के लिए अभिशप्त है ।इसी कारण कुछ आलोचक कहते हैं कि अस्तित्ववाद भी नियति या पूर्व- निश्चित तत्व से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका। क्योंकि इस विचार में यह तथ्य निहित है कि स्वतंत्रता मानव का मूल तत्व है जो अस्तित्व से पूर्व मौजूद है।

अस्तित्ववाद ने हिंदी रचनात्मक साहित्य तथा आलोचना को भी प्रभावित किया है। कविता, कहानी तथा उपन्यास में मनुष्य की विसंगत स्थिति, महानगरों की भीड़ तथा पारिवारिक संबंधों में मनुष्य के अकेलेपन,अजनबीपन तथा संत्रास का वर्णन किया गया है ।अज्ञेय का उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी', धर्मवीर भारती का काव्य नाटक 'अंधायुग' तथा मोहन राकेश का नाटक 'आधे- अधूरे' अस्तित्ववादी चिंतन से प्रभावित कहे जा सकते हैं।

७.८ दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. अस्तित्ववाद की अवधारणा को विस्तार से समझाईए?

२. अस्तित्ववाद के मूल तत्वों को स्पष्ट कीजिए।

३. टिप्पणी लिखिए:

 १) अस्तित्ववाद का साहित्य आलोचना पर प्रभाव किस रूप में पड़ा?

 २) ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद की विशेषताएँ क्या हैं?

 ३) विसंगति का रंगमंच अस्तित्ववाद के दर्शन से किस प्रकार प्रभावित हुआ?

७.९ लघुत्तरीय प्रश्न

१. साहित्य में अस्तित्ववाद के प्रभाव का कारण है।

उत्तर मानव की भयावह विषम स्थिति

२. अस्तित्ववादी दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ कौनसी है?

उत्तर ईश्वरवादी अस्तित्ववाद और अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद

३. ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रवर्तक कौन है ?

उत्तर सोरेन कीर्केगार्द

४. ज्यॉ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद को क्या माना है

उत्तर मानवतावाद

५. ग्रैबियल मार्शल ने अस्तितव व आधिपात्य के बीच किसे महत्व दिया।

उत्तर आशा को

७.१० संदर्भ पुस्तकें

१. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद- डॉ.शिव प्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन दिल्ली।

२. नई कविता और अस्तित्ववाद-डॉ. रामविलास शर्मा,राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

*****

munotes.in

इकाई : ३

८

संरचनावाद

इकाई की रुपरेखा

८.० उद्देश्य
८.१ प्रस्तावना
८.२ संरचनावाद की अवधारणा
८.३ साहित्यिक संरचना
८.४ इकाई और नियम
८.५ सारांश
८.६ दीर्घोत्तरी प्रश्न
८.७ लघुत्तरीय प्रश्न
८.८ संदर्भ पुस्तकें

८.० उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप-

- संरचनावाद की मूल अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- संरचनावाद की उत्पत्ति के विषय में जान पाएँगे।
- साहित्यशास्त्र के रूप में संरचनावाद के उपयोग की पद्धति जान पाएँगे।
- संरचनावाद और पारम्परिक काव्यशास्त्र से तुलना कर सकेंगे।

८.१ प्रस्तावना

समकालीन हिंदी साहित्य चिन्तन पर यूरोप की विभिन्न आधुनिक चिन्तनधाराओं का प्रभाव रहा है। संरचनावाद इन्हीं में से एक है। संरचनावाद हिंदी साहित्य के चिन्तन में अभी प्रवेश पाने के क्रम में है। अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हुआ है। ऐसे में हमें यह जान लेने की आवश्यकता और भी अधिक हो जाती है कि संरचनावाद है क्या?और साहित्य चिंतन में यह किस तरह सहायक है और होगा?

८.२ संरचनावाद की अवधारणा

फ्रांस में साठ के दशक में फर्दिनांद द सस्यूर की भाषिकी अवधारणा को आधार बनाकर संरचनावाद उभरा । यह कोई साहित्यिक आंदोलन नहीं अपितु एक 'प्रविधि' है । फ्रांसीसी नृतत्वशास्त्री या मानवविज्ञानी क्लॉद लेवी स्त्रास ने सर्वप्रथम रक्तसंबंध के माध्यम से संरचना को समझने का प्रयास किया। वे संरचना को 'संबंधों का समुच्चय' मानते हैं। सस्यूर की संकेत प्रणाली इसका आधार थी। सस्यूर की मान्यता थी कि संकेतक, संकेतित तथा वास्तव में एक यादृच्छिक संबंध होता है, जो रुढ़ि पर आधारित है। संरचनावाद का संघर्ष 'वाक्' व 'वाच्य' तथा 'ऐतिहासिक' व 'एककालिक' को लेकर भी बना रहता है। इस प्रविधि में ऐतिहासिक व्याख्या की बजाय एककालिक विश्लेषण पर जोर दिया गया। वाक् या लैंग एक अमूर्त नियम है, वाच्य या पैरोल उससे नियंत्रित अवश्य होता है, किंतु लैंग की संकल्पना पैरोल में ही मूर्त होती है। अतः पैरोल का विश्लेषण महत्वपूर्ण माना गया।

ध्यातव्य है कि संरचनावाद विश्लेषण की ऐसी प्रविधि या पद्धति है जिसको जीवविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र आदि किसी भी अनुशासन पर लागू किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में संरचनावाद को रोलाँ बार्थ ने प्रचलित किया । साहित्यिक समीक्षा में मिशेल फूको तथा ज्याक लकाँ का भी उल्लेखनीय योगदान है । संरचनावाद का मूल भाषिकी मॉडेल है । ज्याँ पेजे ने संरचना की तीन अन्योन्याश्रित विशेषताएँ बताई हैं जो साहित्यिक कृति पर भी लागू होती हैं। वे हैं - पूर्णता, सजीवता तथा स्वनिष्ठता इस रूप में देखें तो संरचना अपने आप में पूर्ण होती है, स्वतंत्र घटकों का संग्रह मात्र नहीं वह जीवंत और गतिशील रहती है । उसके अपने अनुशासन होते हैं, अर्थात आप तंत्र में तत्वों को जोड़ तो सकते हैं किंतु उसकी आधारभूत संरचना में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते है।

संरचनावाद कृतियों के एककालिक अध्ययन पर बल देता है तथा उसी आधार पर उनका ऐतिहासिक पुनर्निर्माण भी करता है । जॉक लकाँ मनोवैज्ञानिक चिंतन को संरचना में ढालने की उल्लेखनीय कोशिश करता है । उनके अनुसार भाषा चूंकि चेतना में निहित होती है, तथा चेतन,अवचेतन तथा अचेतन में भी एक यादृच्छिक संबंध होता है। इसी को ध्यान में रखकर भाषा के 'विन्यासक्रमी', अविन्यासक्रमी संबंधों को समझा जा सकता है। सारे तत्वों का महत्व वस्तुतः इसी में है कि ये संरचना में कार्य कैसे करते हैं।

एक महत्वपूर्ण सवाल अक्सर उठा करता है कि क्या बिना भाषा के विचार संभव हैं? सस्यूर का मानना है कि विचार बिना भाषा के कोई अस्तित्व नहीं रखते। यह भाषा ही है जो विचारों को आकार प्रदान करती है तथा उन्हें अभिव्यक्ति योग्य बनाती है। एक अन्य महत्वपूर्ण बात संकेत कों के बारे में यह कि तंत्र में उनके बीच सबसे महत्वपूर्ण संबंध, जो उनका मूल्य निर्धारित करता है, वह है अंतर का बोध। जैसे - बिल्ली 'बिल्ली' - बिल्ली है क्योंकि वह दूसरा कुछ (कुत्ता, बकरी, भेड़ आदि) नहीं है। सस्यूर इसे 'नकारात्मक मूल्य' कहते हैं, जिसमें किसी वस्तु का मूल्य अथवा अर्थ इसी कारण से है क्योंकि वह अन्य कुछ नहीं है। संरचनावाद संकेतक और संकेतित को समान महत्व देने की बात करता है। मार्क्स भी कथ्य और शिल्प के द्वंद्वात्मक संबंध की बात करता है। जैसा कथ्य है उसी के अनुरूप उसके शिल्प की निर्मिति भी आवश्यक है।

संरचनावाद एक पाठ केंद्रित प्रविधि है। 'रचना-कर्म' पूर्ण होने पर लेखक की भूमिका समाप्त हो जाती है तथा पाठक उसमें अर्थ की खोज स्वयं करता है। बार्थ ने तो कह दिया कि 'लेखक की मृत्यु हो चुकी है, क्योंकि उसी में पाठक का जन्म निहित है। ' इसी कारण संरचनावाद का पूरा ध्यान पाठ पर है। पाठ के साथ पाठक का भी महत्व बढ़ा। संरचनावाद किसी भी लेखन को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। संरचनावाद में सिद्धांततः साहित्यिकता जैसा कोई आग्रह नहीं है। वह हर तरह के लेखन को अपने विश्लेषण का आधार बनाता है। महान साहित्य और बाजारू साहित्य जैसा मानक संरचनावाद निर्मित नहीं करता इसी कारण संरचनावाद मूल्य निर्णय नहीं देता।

संरचनावाद का उद्भव बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। संरचनावाद के मूल दो आदि आचार्य हैं। इनमें से एक है सस्यूर और दूसरे है क्लाड लेवी स्त्रास। संरचनावाद के सिद्धांत का महत्व इन द्वारा दोनों द्वारा निर्मित हुआ है। सस्यूर भाषा विज्ञान के अध्यापक थे। उनके जीवनकाल में उनकी कोई पुस्तक नहीं छपी। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में उनकी किताब छपी और एकाएक वे एक नए चिंतन के अधिष्ठाता बने या मान लिए गए। उन्हीं से संरचनावादी भाषा विज्ञान का आरंभ माना जाता है। उन्होंने भाषा के दो भेद किए- लैंग(भाषिक व्यवस्था)और पैरोल(भाषिक व्यवहार) । भाषा एक सामाजिक वस्तु है, स्थायी है, उसके कुछ नियम हैं। दूसरी तरफ भाषा सतत परिवर्तनशील है। व्यवहार करने वाला व्यक्ति उस भाषा को बदलता,सुधारता,सँवारता रहता है। इन दोनों तत्वों से मिलकर ही भाषा बनती है।

- **भाषिक व्यवस्था (लैंग):**

  भाषा एक व्यवस्था है। इसके कुछ नियम हैं। इन नियमों के कारण जब एक व्यक्ति बोलता है तो दूसरा समझ लेता है,क्योंकि यह प्रतीकबध्द सामाजिक व्यवस्था है। वह व्यक्ति से जुड़ी हुई होते हुए भी व्यक्ति की अपनी सीमा से मुक्त होती है। यह भाषिक व्यवस्था मूल्यपरक व्यवस्था के रूप में काम करती है। भाषा के शुद्ध रूप में केवल मुल्य होते हैं। जो भाषिक प्रतीकों के भौतिक उपादान अथवा और लक्षण द्वारा नियंत्रित नहीं किए जा सकते।

  इस बात को सस्यूर ने शतरंज के खेल द्वारा समझाने का प्रयास किया है। शतरंज के खेल में प्रयुक्त होने वाले मोहरे एक मूल्य के रूप में पहचाने जाते हैं। यह मुल्य खेल में उनके प्रकार्य को निश्चित करता है। प्यादा एक घर चलता है और दूसरे मोहरों को तिरछे मारता है। हाथी सीधे कई घर चल कर सीधे ही दूसरे मोहरों को मार सकता है। घोड़ा ढाई घर चल कर दूसरे मोहरों को मार कर चल सकता है। ये मोहरे अपने रूप आकार में छोटे-बड़े हो सकते हैं। वे अपने उपादान में प्लास्टिक, कागज, लकड़ी,धातु आदि किसी भी वस्तु के बने हुए हो सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि हम एक मोहरे,प्यादे को दूसरे मोहरों-हाथी,घोड़ा आदि से किसी भी भेदक लक्षण के आधार पर अलग कर सकें। सस्यूर का कहना है कि यह मोहरे अपने भौतिक उपादानों या बाह्य रंग के आधार पर खेल में भाग नहीं लेते,बल्कि उनको जो 'मूल्य' मिला हुआ है, इसके आधार पर वे खेल में चलते हैं। इस मूल्य

व्यवस्था से शतरंज का खेल चलता है। यही कारण है कि अगर कोई मोहरा खो जाता है तो हम किसी भी अन्य, अलग-सी दिखायी पड़नेवाली वस्तु को उसका मूल्य देकर चला लेते हैं। अर्थात् शतरंज का खेल मोहरों के भौतिक लक्षणों के आधार पर नहीं खेला जाता। बल्कि उस मूल्य के आधार पर खेला जाता है, जो विभिन्न मोहरों के खेल के विधान द्वारा दिया हुआ है।

सस्यूर के अनुसार भाषा की प्रकृति को भी शतरंज के खेल के सादृश्य से समझा जा सकता है। क्योंकि किसी भी भाषा की, किसी ध्वनि क, ख, ग अथवा उसके रंग नीला पीला आदि नाम की सार्थकता,उसके भौतिक उपादानों में नहीं होती। वह तो उस मुल्य में होती है,जिसे भाषा की अपनी व्यवस्था या विधान उसे प्रदान करता है। यही लैंग है।

- **भाषिक व्यवहार(पैरोल):**

व्यक्ति जब इस भाषा का व्यवहार करता है तो उसमें उसकी निजता आ जाती है। इससे वह भाषिक व्यवस्था के नियमों में थोड़ा हेर-फेर कर देता है। सामान्य से तथ्य कथन में कविता कर डालता है। आपका आना मुझे अच्छा लगा। यह कहने के लिए शायर ग़ालिब कहते हैं-

"उनके देखे से जो आती है मुँह पर रौनक

वह समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है। "

यह पैरोल है। पैरोल पर परिस्थितियों का, श्रोताओं की मनोवृति का, वक्ता से उसके रिश्तों का दबाव रहता है। इसी वाक् व्यवहार से भाषा में नए-नए परिवर्तन और विकास होते रहते हैं।

- **परस्पर विलोम(बायनरी अपोजिट):**

भाषा के संदर्भ में अर्थ या मूल्य- स्वीकृत अर्थ को कहते हैं। मूल्य का निर्णय परस्पर विरोधी अर्थात् परस्पर विलोम संदर्भो से होता है। कोई है क्या है?इसका पता इससे चलता है कि वह क्या नहीं है?असमान चीजों में 'मूल्य' से तुलना का काम होता है-उदाहरण के लिए रुपए से गेहूँ खरीदा जा सकता है,किताब खरीदी जा सकती है, शिक्षा खरीदी जा सकती हैं। मूल्य पर बात करते समय इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि भाषा की व्यवस्था बदलते ही अर्थ बदल जाता है। जहाँ संज्ञा आनी हो,वहाँ संज्ञा ही आनी चाहिए,अन्यथा अर्थ विपरीत हो सकता है। अंग्रेजी में एक वाक्य का उदाहरण देते हुए संरचनावाद के व्याख्याकारों ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है- The cat sat on the mat का वही अर्थ नहीं है जो The mat sat on the cat का है। हिंदी के एक वाक्य को देख सकते हैं-सोहन का पुत्र मोहन है' का वही अर्थ नहीं है जो 'मोहन का पुत्र सोहन है' का है। इसलिए जो जहाँ है,उसे वहीं रहना चाहिए। भाषा की व्यवस्था यथास्थितिवाद का समर्थन करती है।

सस्यूर का मत है कि साहित्य भाषा से बनता है,भाव से नहीं बनता साहित्य कैसे निर्मित होता है या कैसे प्रभाव डालता है,इसको जानने के लिए हमें यह जानना जरूरी है कि भाषा स्वयं कैसे बनती है। सस्यूर के अनुसार भाषा एक संकेत व्यवस्था है,जिससे अर्थ संभव होता है। भाषा का आधार चीजों या प्रक्रियाओं को नाम देना है। उस 'नाम' से वह 'बात' जुड़ी हुई है इसमें दो चीजें हैं- एक है 'अवधारणा' और दूसरा 'ध्वनि बिम्ब'। ध्वनि बिम्ब भौतिक बिम्ब नहीं है बल्कि मनोवैज्ञानिक बिम्ब है। क्योंकि कई बार अपने आप से बोलने के लिए ध्वनि की जरूरत नहीं पड़ती। भाषिक चिन्ह अवधारणा और ध्वनि बिम्ब के मेल से बनता है। जैसे 'पेड़' शब्द से पेड़ का बोध होता है। अलग-अलग भाषाओं में पेड़ के लिए अलग-अलग शब्द है।

सस्यूर का मत है कि भाषा के बिना विचारों का अस्तित्व ही नहीं होता भाषा से पहले विचार नहीं आता इससे प्रमाणित होता है कि भाषा हमारे विचारों,भावों, चिंतन और यथार्थ को एक आकार देती है, जिससे अर्थ उत्पन्न होता है। मसलन आप झूठ बोलते हैं। वह निर्भीक है,डरपोक है-ऐसी अनेक जटिल भाव संरचनाओं को व्यवस्था देने का काम भाषा का है।

संरचनावाद का अर्थ भवन-निर्माण के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं। जब कभी मकान की बात हो हम उसमें कमरों की भी बात करते हैं। कमरा और मकान में फर्क है। मकान में एक विशेष काम के लिए विशेष कमरा है-खाना बनाने कमरा,नहाने का कमरा,पूजा का कमरा ,सोने का,बैठने का, पढ़ने का, मेहमानों का कमरा, नौकर का कमरा हर कमरा आवश्यकता और कार्य के अनुरूप होता है। ये अलग-अलग कमरे आपस में जुड़े हुए होते हैं बरामदा, गैलरी इन कमरों को आपस में जोड़ते हैं। इनमें हम एक से दूसरे कमरे में आ जा सकते हैं कमरे से बाहर देखने के लिए खिड़कियाँ,दरवाजे और रोशनदान होते हैं जब इनको बंद कर देते हैं,कमरा बंद हो जाता है खोल देते हैं तो बाहरी दुनिया से जुड़ जाते हैं यह अंत:संबंध कमरों को मकान बनाता है इसी तरह कई मकान मिलकर गाँव,शहर, राज्य और देश बन जाते हैं। यह अंत:संबंध ही संरचना है। यदि हम रूपक की भाषा में बात करें तो मकान की यह संरचना ही समाज की संरचना है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि समाज एक मकान होता है। संरचनावादी कहते हैं कि हर एक वस्तु एक संरचना होती है। और यदि कोई संरचना नहीं है तो वह कोई काम नहीं आ सकती इस तरह संरचना और कर्म एक दूसरे से जुड़े होते हैं। जब यह संरचना टूटती हैं या बनती नहीं है,बिखरती है तो काम बंद हो जाता है। गाड़ी रुक जाती है जीवन गतिहीन हो जाता है काम के लिए गति जरूरी है इस कारण बंद का असर समाज पर पड़ता है। हड़ताल,धरना प्रदर्शन ये सभी संरचना को तोड़नेवाले अनुत्पादक तत्व हैं संरचनावाद यथास्तिथीवाद का समर्थन करता है।

इस तरह से संरचना का अर्थ हैं विभिन्न अवयवों में आपसी तालमेल इसे लेवी स्त्रास ने मिथक और रक्त संबंधों की व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया। अलग-अलग हिस्से कुछ निश्चित नियमों से एक दूसरे से जुड़े हुए रहते हैं। उससे एक नया संबंध बनता है,जैसे भाषा के अवयव व्याकरण के नियमों से बँधे रहते हैं। उसी तरह समाज भी सुसम्बध्द होता है। उदाहरण के लिए संगीत के एक अंश को लिया जा सकता है। संगीत के एक हिस्से को लिखा जा सकता है। पियानो पर बाजाया जा

सकता है। रिकॉर्ड किया जा सकता है। रेडियो या दूरदर्शन पर उसे प्रसारित किया जा सकता है इस तरह संगीत के उस हिस्से का रूपांतरण हो सकता है वह लिखित में नोटस् में,ऊँगलियों के संचालन में,ध्वनि तरंगों या रेडियो तरंगों में बदल सकता है यह सतही यथार्थ है परंतु इन सबमें एक चीज सामान्य है वह संगीत है यही संरचना है। यह सतही यथार्थ नहीं है यह अन्तर्निहित यथार्थ है यदि संगीत के उस अंश की संरचना में कोई दोष है तो उसे न गाया जा सकता है और न बजाया जा सकता है।

संरचनावाद के दो तत्व हुए-इकाइयाँ और नियम। पहले इकाइयों की व्यवस्था बनती है, फिर वे अन्तर्निहित नियम होते हैं जिनसे यह इकाइयाँ संचालित होती हैं उदाहरण के लिए, भाषा में इकाई अक्षर होते हैं,उनसे शब्द बनते हैं, जो फिर व्याकरण के रूप में जो शब्दों को क्रम देते हैं। अलग-अलग भाषाओं की व्यवस्था अलग-अलग होती है। शब्द अलग होते हैं, परंतु सभी भाषाओं की संरचना एक होती है। जो व्याकरणिक व्यवस्था को अर्थ देती है उदाहरण के लिए हम अलग-अलग संज्ञा सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, विराम चिन्हों को पढ़ते हैं। यदि उनको बिना किसी व्यवस्था के पढ़े तो उनका या तो कोई अर्थ नहीं बनता,या गलत बनता है या क्षीण-सा अर्थ निकलता है परंतु जब संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि अपने-अपने सर स्थान पर चले जाते हैं तब पूरा अर्थ व्यक्त होता है अब कोई चाहे तो एक संज्ञा के स्थान पर दूसरी या एक विशेषण के स्थान पर कोई दूसरा विशेषण इस्तेमाल कर सकता है यह पैरोल है परंतु इससे भाषा की व्याकरणिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् शब्द इस व्याकरणिक व्यवस्था में आते हैं तब काम करते हैं।

८.३ साहित्यिक संरचना

इस अवधारणा के लिए संरचनावादी एक उदाहरण देते हैं। जैसे एक शब्द है 'सिंड्रेला' इससे आपके मन में एक अर्थ पैदा होता है। इसकी कथा हम जानते हैं संरचनावादी कहते हैं कि सिंड्रेला की कहानी की मूल संरचना वही है जो 'स्नो-व्हाइट' की या अन्य परिकथाओं की है। इसमें एक राजकुमारी होती है। विमाता उसे तंग करती है फिर राजकुमार आकर उसे बचाता है उससे विवाह करता है इस कहानी में इकाई चरित्र है और नियम यह है कि विमाता खराब होती है राजकुमारी उसकी शिकार होती है। राजकुमार और राजकुमारी का विवाह होता है। अब इसमें आप कुछ छोटी-मोटी बातें जोड़ लें या घटा लें कहानी की मूल संरचना वही बनी रहती है।

हिंदी में मुक्तिबोध ने 'कामायनी एक पुनर्विचार' शीर्षक पुस्तक लिखी। बड़ा ही मार्मिक-मौलिक मार्क्सवादी विश्लेषण किया। इसमें एक जगह उन्होंने कामायनी की संरचनावादी व्याख्या कर डाली। उन्होंने लिखा कि मान लीजिए मनु का नाम मनु कुमार है। फिर इड़ा और श्रद्धा की जगह दो आधुनिक नाम वाली नायिकाओं का नाम लिख लें और कहानी को आगे बढ़ाएँ तो पूरी कामायनी की संरचना एक मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति की प्रेम कहानी बन जाएगी। श्रद्धा वह जो स्वयं मनु पर जान छिडकती है। इड़ा को मनु कौशलपूर्वक हथियाता है एक आधुनिका है,दूसरी परम्परानुगामी। मनु दोनों से प्रेम करता है। प्रसन्न रहता है और अन्त में कष्ट उठाता है। क्योंकि भारतीय संरचना में एक

ही स्त्री से प्रेम करना चाहिए। इस तरह संरचनावादी जब किसी कहानी या फिल्म की आलोचना करता है तो वह उसकी मूलभूत संरचनाओं को तलाश करता है। हिन्दी फिल्म का यह गाना जैसे प्रेम कहानी में एक लड़का होता है। एक लड़की होती है। कभी दोनों हँसते हैं। कभी दोनों रोते हैं। यह हिंदी बाजारू फिल्मों की संरचनावादी व्याख्या हो सकती है-एक लड़का और लडकी प्रेम करते हैं। लड़का और लड़की के माता-पिता में से एक समर्थन में होता है तो दूसरा विरोध में या फिर दोनों विरोध करते हैं। यह दोनों समर्थन कर दे तो फिल्म आगे नहीं बढ़ पाएगी विवाह हो जाएगा और कहानी फिल्म खत्म। लेकिन ऐसा नहीं होता। लड़का और लड़की के माता-पिता जबरदस्ती दोनों का विवाह किसी और से कर देते हैं। वह पत्नी से प्रेम नहीं कर पाता वह पति से प्रेम नहीं कर पाती फिर लड़का और लड़की मौका देखकर भाग जाते हैं। पकड़े जाते हैं या आत्महत्या कर लेते हैं। या सुहागरात में लड़का- लड़की अपने पति या पत्नी को सब बता देते हैं तब दोनों फिर अपने-अपने प्रेमियों के पास पहुँच जाते हैं। यह संरचनाओं के भीतर का यथार्थ है अब आप नायक के रूप में जिसका चेहरा रख लें,गीत-संगीत किसी का बजा लें, फिल्म की संरचना वही रहेगी। इस तरह सभी रचनाओं के भीतर संरचना होती है पैटर्न होता है उन्हें ढूँढा जा सकता है।

८.४ इकाई और नियम

अब प्रश्न यह उठता है कि इकाई और नियम को सार्थक व्यवस्था देने का काम कौन करता है? संरचनावादियों के अनुसार व्यवस्था मानव मस्तिष्क करता है। मस्तिष्क स्वयं एक संरचनात्मक व्यवस्था है। जो इकाई को नियमों के अनुसार रखता है। जिसका तात्पर्य है कि बाहरी दुनिया में हम जो व्यवस्था देखते हैं वह बाहरी दुनिया में नहीं होती,बल्कि हमारे भीतर भी होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाहरी दुनिया में कोई यथार्थ है ही नहीं। ऐसा नहीं है। बाहरी दुनिया में कुछ ज्यादा ही यथार्थ है। बाहर कई तरह की इकाइयाँ है। हम एक साथ उन्हें देखते हैं,परंतु समझने के लिए हमारा मानस ही उनमें व्यवस्था प्रदान करता है। इस तरह संरचनावाद दरअसल मानव जाति का विज्ञान है। और वह उन सब संरचनाओं को उद्घाटित करता है जो मनुष्य सोच,समझ या महसूस कर सकता है। वह संरचना चाहे गणित में हो, जीव विज्ञान में भाषा विज्ञान या धर्म मनोविज्ञान या साहित्य में कहीं भी हो।

इस क्रम में संरचनावादी मानते हैं कि ये संरचनाएँ शाश्वत होती हैं। प्रत्येक संस्कृति में, प्रत्येक कालखंड में मानव मस्तिष्क उन्हें संगठित करता है। उदाहरण के लिए सभी मानव समाज के पास भाषा होती है, जिसके मूल में संरचना होती है। यहाँ शब्द या इकाई व्याकरण के नियमों से अर्थ प्रदान करते हैं। इस तरह के कुछ नियम रक्त संबंधों में होते हैं। जिनसे यह तय होता है कि व्यक्ति किससे विवाह कर सकता है,किससे नहीं। या कुछ नियम बने होते हैं जिसमें मनुष्य चीजों का आदान-प्रदान करता है। इन सारे नियमों में अन्तर्निहित एकता होती है। बाह्य यथार्थ में थोडा-बहुत हेर-फेर हो सकता है। तो अन्ततः संरचना क्या है? कोई भी वैचारिक अवधारणात्मक व्यवस्था संरचना होती है। जिसमें निम्न तीन विशेषताएँ होती है-

- संपूर्णता:
  व्यवस्था संपूर्णता में कार्य करती है। कोई एक हिस्सा कार्य नहीं करता। पूर्णता के बिना कोई भी सूचना सक्रिय नहीं होती।

- रूपान्तरण:
  व्यवस्था जड़ नहीं परिवर्तनशील होती है। संपूर्ण संरचना में भी कोई नई इकाई जुड़ सकती है। परंतु ऐसा होने के लिए उसे व्यवस्था के नियमों के अंतर्गत आना होता है। बैलगाड़ी के पहिए जो कभी लकड़ी के हुआ करते थे वह बाद में रबड़ के बन गए। हवाई जहाज तक के पहिए बदलते रहे।

- स्वनियंत्रण:
  आप ही व्यवस्था में नए तत्व जोड़ तो सकते हैं,मूलभूत संरचना नहीं बदल सकते। व्यवस्था में बदलाव व्यवस्था के नियमों से बाहर नहीं होता। आप वंशानुगत राजा के स्थान पर चुना हुआ प्रधानमंत्री ला सकते हैं, पर सत्ता रहित समाज की परिकल्पना संभव नहीं। चैक की जगह एटीएम कार्ड हो सकता है।

इसका सार तत्व यह है कि पाठ की वैयक्तिकता शिक्षा समाप्त हो जाते और पैटर्न व्यवस्था और संरचना पर नजर टिक जाती है। इस प्रक्रिया में लेखक का लोप हो जाता है। उसे दरकिनार करके ही चर्चा की जाती है। संरचनावाद रूमानी-मानवतावादी पश्चिमी परंपरा की धारणा के खिलाफ है कि पाठ का जनक लेखक है। पाठ का आरंभ लेखक से होता है। संरचनावादी तर्क देते हैं कि किसी पाठ का उदय या रचना नहीं होती। लेखक तो पहले से उपलब्ध संरचनाओं के एक विशेष क्रम में कहानी ढालता है। यह तो पैरोल मात्र है। फिर दूसरी बात यह भी कि 'हम भाषा बोलते हैं' के स्थान पर 'भाषा हम में बोलती है'। हम भाषा का निर्माण नहीं करते बल्कि उसे अंगीकार करके एक संरचना प्रदान करते हैं। ताकि हम बोल सकें। इस तरह प्रत्येक पाठ प्रत्येक वाक्य जो हम बोलते हैं, या लिखते हैं, वह सब पहले से लिखा हुआ है। इस तरह संरचनावादी इतिहास को नकारते हैं। लेवी स्त्रास मानते हैं कि संरचनाएँ शाश्वत होती है। कालविहीन होती है।

यदि हम मानवतावादी मॉडल की बात करें जिससे आज का भारतीय पाठक भी सहमत है। वह इस प्रकार है-

हमसे बाहर एक वास्तविक दुनिया है जिसे हम तार्किक मस्तिष्क से समझ सकते हैं। भाषा में सामर्थ्य है कि वह इस वास्तविक दुनिया का कमोवेश चित्रण कर सकती है। भाषा लेखक की व्यक्तिगत वस्तु होती है अर्थात् जो हम तय करते हैं उसे वह व्यक्त करती है। जो हम कहते हैं उसका अर्थ हमें पता होता है। भाषा में जिसे 'मैं' कहकर पुकारा जाता है,वह लेखक के 'मैं' सत्य और अर्थ का केंद्र होता है। सत्य वह है जिसे मैंने ऐसा समझा है। मैं अपना वाक्य स्वयं सृजित करता हूँ। मेरे व्यक्तिगत अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह निजी अभिव्यक्ति होती है।

संरचनावादी इस मॉडल को नहीं मानते उनके मत का सार इस प्रकार है-

भाषा की संरचना यथार्थ को निर्मित करती है। हम सिर्फ और सिर्फ भाषा के माध्यम से सोच पाते हैं। इसलिए हमारा सारा बोध भाषा की संरचना से निश्चित और नियमित होता है। भाषा हम में बोलती है अर्थात् अर्थ का उद्गम व्यक्तिगत अस्तित्व या अनुभव से नहीं होता अर्थ व्याकरण,चिन्ह, पैटर्न, जो भाषा को निश्चित करते हैं उनसे आता है अर्थव्यवस्था से आता है जहाँ कोई व्यक्ति उस व्यवस्था के भीतर व्यक्त कर पाता है अर्थ को केंद्र में व्यक्ति अर्थात् लेखक नहीं होता बल्कि वह संरचना को उसके केंद्र में रखता है संरचना से अर्थ पैदा होता है 'मैं कहता हूँ' का तात्पर्य यही है कि मैं भाषिक व्यवस्था को अंगीकार करता हूँ यह भाषिक उत्पाद है।

८.५ सारांश

इस तरह हम कह सकते हैं कि संरचनावाद शुद्ध साहित्य सिद्धांत नहीं है। यह व्यापक सिद्धांत है। जो अन्य अनुशासनों के साथ-साथ साहित्य पर भी लागू हो सकता है। आलोचकों और विचारकों ने साहित्य की संरचनावादी व्याख्या की है। इससे साहित्य को भी नए ढंग से पढ़ने की दृष्टि मिलती है। संरचनावादी मूलभूत मान्यताओं का विरोध हुआ। यह विरोध मार्क्सवादियों,अस्तित्ववादियों और अन्य मानवतावादी चिंतकों-विचारकों और आलोचकों ने किया फिर सन् साठ के बाद संरचनावादी चिंतन का भी विकास हुआ और इसी संरचनावाद के भीतर से उत्तर-संरचनावाद पैदा हुआ। रोला बार्थ, मिशेल फूको और जॉक देरिदा इस उत्तर संरचनावाद के प्रमुख पैरोकार माने जाते हैं।

८.६ दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. संरचनावाद की अवधारणा को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए?

२. साहित्यिक संरचना पर प्रकाश डालिए।

३. टिप्पणी लिखिए:

१.भाषिक व्यवस्था 'लैंग' के बारे में सस्यूर के विचार क्या है?

२.'परस्पर विलोम' की संकल्पना स्पष्ट कीजिए।

३.'इकाई और नियम' क्या है?

८.७ लघुत्तरीय प्रश्न

१. संरचनावाद की अवधारणा कहाँ से उद्भवित हुई?

उत्तर - फ्रांस

२. जॉक लकॉ ने किस चिंतन को संरचना में ढ़ालने की कोशिश की है?

उत्तर - मनोवैज्ञानिक चिंतन

३. संरचनावाद के दो मूल आचार्य माने जाते है?

उत्तर - सस्यूर और क्लाड लेवी स्त्रास

४. सस्यूर ने संरचनावाद को किस खेल द्वारा समझाया है?

उत्तर - शतरंज

५. संरचना वादीयों के अनुसार इकाई और नियम को सार्थक व्यवस्था देने का काम कौन करता है?

उत्तर - मानव मस्तिष्क

८.८ संदर्भ पुस्तक

१. समकालीन साहित्य चिन्तन, संरचनावाद -प्रो. रामबक्ष जाट,

२. ईपाठशाला एनसीईआरटी नई दिल्ली।

******

munotes.in

इकाई : ३

९

उत्तर-आधुनिकतावाद

इकाई की रुपरेखा

९.० उद्देश्य
९.१ प्रस्तावना
९.२ उत्तर-आधुनिकतावाद की अवधारणा
९.३ उत्तर-आधुनिकतावाद के मूलतत्व
९.४ आधुनिकतावाद बनाम उत्तर-आधुनिकता
९.५ साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद
९.६ सारांश
९.७ दीर्घोत्तरी प्रश्न
९.८ लघुत्तरी प्रश्न
९.९ संदर्भ पुस्तकें

९.० उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप उत्तर-आधुनिकतावाद के मूल अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- उत्तर-आधुनिकतावाद की उत्पत्ति के विषय में जान पाएँगे।
- आधुनिकवाद और उत्तर-आधुनिकतावाद के अंतर को समझ सकेंगे।
- साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद के उपयोग की पद्धति जान पाएँगे।

९.१ प्रस्तावना

उत्तर आधुनिकता को परिभाषित करना अत्यंत कठिन है। वास्तव में यह कोई सिद्धांत नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार की संवेदनशीलता, वस्तुओं को देखने का वह ढ़ंग है जिसने साहित्य कला, स्थापत्य, धार्मिक लेखन की शैलियों और यहाँ तक कि नैतिक और सामाजिक व्यवहारों और प्राथमिकताओं को प्रभावित किया है। इस अस्पष्ट स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह जानना सहायक हो सकता है कि समकालीन लेखन में उत्तर-आधुनिकतावाद कम-से-कम चार अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है:

munotes.in

अ) सामाजिक स्थिति अर्थात् कोई समाज वास्तव में कैसा है और कैसे चलता है।

ब) कला की एक शैली के रूप में जैसा कि हम उत्तर आधुनिक भवन या पेंटिंग की बात करते हैं।

क) एक पद जिसे आधुनिक काल के समाज से वर्तमान समाज के भिन्न पक्षों का संकेत करने के लिए ढीले ढंग से प्रयोग किया जाता है।

ड) समाज के इस नए चरण और इसकी चीजों को संगठित करने की शैली की व्याख्या करने या समझने का प्रयास करने वाले सिद्धांतों और विचारों के रूप में।

कुछ लोग उत्तर आधुनिकता शब्द को आज की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग करते हैं। और उत्तर आधुनिकतावाद शब्द का प्रयोग ठेठ वर्तमान चिंतन और दर्शन के लिए करते हैं। दूसरे लोग इन दोनों अर्थों में उत्तर आधुनिकतावाद का प्रयोग करते हैं।

९.२ उत्तर-आधुनिकतावाद की अवधारणा

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति, कला, संगीत, वास्तुशास्त्र, साहित्य और चिंतन में जो परिवर्तन आए हैं, उत्तर-आधुनिकतावाद उनको परिलक्षित करने वाला एक व्यापक लेकिन विवादास्पद पारिभाषिक शब्द है। 'उत्तर-आधुनिकतावाद' शब्द कई भिन्न अर्थों में इस्तेमाल होता चला आ रहा है। यह वर्तमान समय की विचारधारा है मूड है। एक ऐतिहासिक युग है, सांस्कृतिक कला वस्तु है, सामाजिक अनुलक्षण है, यह सैध्दांतिक संवाद, पारिभाषिक परिचर्चा या वर्तमान वृतांत है। क्या यह एक नकारात्मक रवैया है जो आधुनिकतावाद के विरुद्ध उभरकर सामने आया है और उसकी समस्त संपदा-चिंतन, दर्शन, विचारधारा, व्यवस्था, साहित्य, सभ्यता और मूल्यों को चुनौती दे रहा है?

उत्तर आधुनिकतावाद साठ के दशक के उनन्मुक्ति आंदोलनों से निकला है जिन्होंने व्यक्ति तथा व्यवस्था, अल्प समूह तथा वृहद समाज, विचारों तथा विसंगतियों, मूल्यों तथा विधि-विधा, विचारधाराओं, नीतियों, राजनीति राष्ट्रीयता आदि प्रश्न पर चिन्ह लगा दिए। नारी मुक्ति, अश्वेत रोष, शांति मार्च, युवा विद्रोह, यौन क्रांति और न जाने कितने छोटे-मोटे आंदोलनों ने विभेदों और केंद्रीयता के चक्रव्यू को तोड़कर समाज तथा संस्कृति को विभिन्न विभाजित संरचनाओं और इकाइयों में बदल दिया। सन् १९६८ एक ऐसा वर्ष था जो उत्तर आधुनिकता की परवरिश में बहुत ही महत्वपूर्ण था। इसी वर्ष फ्रांस में छात्र विद्रोह हुआ और वर्ग संघर्ष के बजाय युवा वर्ग व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष का अग्रिम दस्ता बन गया। इसी वर्ष रोलां बार्थ की पुस्तक 'द डेथ ऑफ द ऑथर' प्रकाशित हुई। इसी वर्ष फ्रेंक कर्मोड ने वर्तमान युग को 'अंत के एहसास का युग' कहा। इसी वर्ष ऐसी तकनीकी क्रांति हुई जिसने जनसंचार के अदृश्य केंद्रीय व्यवस्था को विकेंद्रित कर दिया। इससे एक वर्ष पूर्व जॉक देरिदा ने विखंडनवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस प्रकार मुक्ति आंदोलनों, पोर्टेबल वीडियो, रिकॉर्डर प्लेयर, कैमरा, कंप्यूटर टेक्नोलॉजी, सूचना विस्फोट तथा विखंडनवाद आदि ने मिलकर जो नया परिदृश्य निर्मित किया उसे उत्तर-आधुनिकतावाद की संज्ञा दी गई है कहा जाता है

कि उत्तर-आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति सन् १८८० से ही चित्रकला में प्रदर्शित होती चली आ रही है सन् १९४० से वास्तु कला में इसका प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया। आर्नल्ड टायनबी के अनुसार सन् १९२५ में रोडल्फ पॉमनविज उत्तर आधुनिकतावाद का उल्लेख यूरोपीय शून्यवाद की रेडिकल क्रांति के महान पतन' के प्रसंग में कर चुके थे। इहाब हसन उत्तर-आधुनिकता के प्रकट होने का समय १९२० के आसपास बताते हैं।

उत्तर आधुनिकतावाद जिसे जर्मनी में नित्शे, हर्सेल और हेडेगर से शुरू हुआ बताया जाता है, फ्रांस में जाँ लियोतार, मिशेल फूको, रोलां बार्थ, जां बोद्रीला और जॉक देरिदा से होते हुए पाल द मान के साथ सफर करता हुआ अमेरिका के विश्वविद्यालयों में प्रवेश कर गया। और फिर अमेरिकी चिंतकों की व्याख्याओं के हवाले से भारत में भी इसकी अनुगूँज सुनाई देने लगी। हिंदी साहित्य में अस्सी के दशक में इसकी चर्चा होनी शुरू हो गई और यह चर्चा सदी के अंतिम दशक में साहित्यिक विमर्श का केंद्र बन गई। नब्बे के दशक तक पहुँचते-पहुँचते उत्तर आधुनिकता का प्रभाव क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि यह कला, साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा समाजशास्त्र के विमर्श के केंद्र में आ गया। उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव क्षेत्र का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि फिल्म से लेकर फैशन तक, विचार से लेकर विज्ञापन तक, कल्चर से लेकर कॉमिक्स तक, इतिहास, दर्शन, कला, साहित्य, मीडिया सब उत्तर- आधुनिकतावाद से प्रभावित हुए हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद बहुलतावाद अथवा बहु-संस्कृतिवाद पर आधारित है उत्तर- आधुनिकतावाद केंद्रियता की अपेक्षा स्थानीयता पर बल देता है उत्तर-आधुनिकतावाद एकीकृत के बजाय विभिन्नता या अन्यथा के मूल प्रश्न को मानता है परिणामस्वरुप विरोधी विचार, हाशिए पर स्थित लोग, परिधि पर स्थित जातियाँ, अश्वेत, दलित जनजातियाँ, नारी वर्ग, समलैंगिक स्त्री-पुरुष, हर प्रकार के विपथगामी लोग जिनकी पहचान या आवाज नहीं थी और जिन्हें सत्ता की भागीदारी, समाज में सक्रियता तथा सांस्कृतिक संवाद के दायरे से बाहर रखा या समझा गया था, अब वर्चस्व के संघर्ष के नए समूह बनकर उभरने लगे। इन मुद्दों को लेकर भारत की राजनीति, संस्कृति तथा साहित्य में जो हो रहा है वह उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा के अनुकूल प्रतीत होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद ने इतिहास को क्रमिक के बजाय अवरुद्ध, रैखिक के बजाय वर्तुल, संयुक्त के बजाय विभाजित, एक के बजाय अनेक, केंद्रित के बजाय विकेंद्रित घोषित कर दिया।

९.३ उत्तर-आधुनिकतावाद के मूलतत्व

उत्तर-आधुनिकतावाद की विचार प्रणाली जिन पर आधारित है वह उत्तर आधुनिकता के मूल तत्व इस प्रकार है-

१. विकेंद्रीयता:

उत्तर आधुनिकतावाद केंद्र से परिधि की ओर यात्रा करता है। समाज के विभिन्न समूह जो हाशिए पर हैं या जिन्हें हाशिए पर धकेल दिया गया है, वे अब महत्वपूर्ण हो गए हैं।

२. स्थानीयता:

विकेंद्रीयता का प्रश्न स्थानीयता से सम्पृक्त है । उत्तर-आधुनिकतावाद वैचारिकता तथा राष्ट्रीयता के बजाय क्षेत्रीयता तथा स्थानीयता पर अधिक बल देता है।

३. प्रभुत्व का संघर्ष:

इसी महत्व के कारण विभिन्न समूहों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष शुरू हो गया है।

४. विकेंद्रित केंद्र:

प्रभुत्व के इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ है कि पुराने एकीकृत केंद्रों के बजाय नए- नए समीकरण वजूद में आ रहे हैं ये समीकरण भी निरंतर बदलते रहते हैं।

५. विभिन्नता:

विभिन्नता तथा विकेंद्रीयता का क्रियात्मक संबंध है। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक दूसरे को सुदृढ़ करती हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद इस बात पर बल देता है कि लोगों का एक समूह प्रायः दूसरे समूहों से अपनी मूल संरचना के कारण भिन्न तथा अलग होता है।

६. हम और वे:

इससे हम और अन्य में भेद किया जा सकता है। हम और अन्य का संघर्ष अनिवार्य है।

७. अस्मिता/स्वत्व/पहचान:

यह संघर्ष स्वत्व तथा पहचान की समस्याओं को जन्म देता है । भिन्नता, अस्मिता तथा अन्यथा इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि वे लोग जिनके हित तथा विचार एक दूसरे से टकराते हैं वे यह महसूस करते हैं कि कोई ऐसा सर्वमान्य व्यापक मुद्दा नहीं जिसके लिए सब एकमत हों इसी से स्वायत्तता का प्रश्न भी जुड़ा है।

८. युगल विपरीतता:

उत्तर-आधुनिकता का यह मूल तत्व समझा जाना चाहिए। युगल विपरीतता का तात्पर्य यह है कि दो विपरीत समूह एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े होते हैं कि इन्हें बिल्कुल अलग कर देना संभव नहीं। लेकिन इस जुड़ाव में एक समूह का दूसरे समूह पर वर्चस्व स्थापित होता है जैसा कि स्त्री-पुरुष इसमें स्त्री पर पुरुष का वर्चस्व है अतः इस असमानता को समाप्त करना आवश्यक है।

९. कर्ता का अंत

उत्तर-आधुनिकतावाद कर्ता के केंद्रीय स्थान या महत्व को स्वीकार नहीं करता अर्थात् अब मानव या मानव संवेदना का कोई अर्थ नहीं रह गया। मिशेल फूको के शब्दों में, "सागर के किनारे रेत पर बनाए गए चेहरे की भाँति मनुष्य का निशान मिट जाएगा। "

१०. चिन्हवाद :

उत्तर-आधुनिकतावाद यथार्थ की नई परिभाषा प्रस्तुत करता है । इसकी दृष्टि में कोई वास्तविक संसार नहीं। यथार्थ एक सामाजिक अवधारणा है एक प्रतिबिंब है एक विभ्रम है जिसकी सत्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि संसार एक ऐसा रंगमंच है जिसमें

प्रत्येक वस्तु एवं विचार इमेज्ड, मैनेज्ड तथा मैनीप्यूलेटेड है हम वास्तविकता को कृत्रिमता अर्थात् चिन्हों तथा प्रतिबिंबों द्वारा ही जानते हैं मार्शल ब्लावस्की के शब्दों में, "हम आकृतियों की दुनिया में जीने के लिए विवश हैं हम यह भूल गए हैं कि कभी कोई वास्तविक आकाश भी था वास्तविक आहार था कभी कोई वास्तविक वस्तु थी।

११. लोकप्रिय संस्कृति :

उत्तर-आधुनिकतावाद लोकप्रिय संस्कृति का समर्थन करता है। यह अभिजात्य कला को सामान्य कला से श्रेष्ठ स्वीकार नहीं करता। दरअसल उत्तर-आधुनिकतावाद हाई आर्ट और लो आर्ट में कोई भेद नहीं करता।

१२. अंतरविषयीय चिंतन :

उत्तर-आधुनिकतावाद ज्ञान-विज्ञान और कला की सीमा रेखाओं को स्वीकार नहीं करता। दो या अधिक शास्त्र मिलकर नए-नए शास्त्रों को जन्म दे रहे हैं फिल्म, फोटोग्राफी, फैशन, कथा साहित्य, कंप्यूटर ग्राफिक्स, चित्रकला, सूचना, संगीत, रंगमंच, भाषा, वेशभूषा, विज्ञापन, इलेक्ट्रॉनिक संप्रेषण अर्थात् प्रत्येक कलात्मक एवं सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना, जीवन का प्रत्येक क्षेत्र और समाज की हर एक वस्तु, हर एक विचारधारा एक-दूसरे में घुल-मिल रही है पद्य गद्यात्मक हो रहा है और गद्य काव्यात्मक कथा साहित्य को इतिहास लेखन और इतिहास को फिक्शन का ही एक फार्म कहा जा रहा है।

१३. अंतवाद:

उत्तर-आधुनिकतावाद को अंतवाद की संज्ञा भी दी गई है। क्योंकि इसमें प्रत्येक विचार, वस्तु तथा कला अभिव्यक्ति के अंत की घोषणा कर दी गई है। इसमें ईश्वर का निधन, मनुष्य की मृत्यु, इतिहास का अंत, विचारधारा का अंत, आधुनिकता का अंत, कला और साहित्य तथा लेखक का अंत शामिल है।

१४. पूर्णतावाद का विरोध:

उत्तर-आधुनिकतावाद किसी प्रकार के पूर्णतावाद में विश्वास नहीं रखता इसके अनुसार कुछ भी शाश्वत, संपूर्ण, अंतिम तथा स्थिर और स्थायी नहीं सब कुछ अनिश्चित और क्षणिक है। यहाँ तक कि शब्दों के कोई स्थायी अथवा निश्चित अर्थ नहीं होते।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद पराभौतिक तथा इतिहास की प्रचलित प्रविधियों एवं बुद्धिवाद के विरुद्ध एक ऐसी सोच है जिसने वर्तमान युग को अत्यधिक प्रभावित किया है। उत्तर- आधुनिकतावाद के अनुसार इस सोच के पीछे श्वेत पुरुष प्रधान यूरोप केंद्रित अभिजात्य शोविनिज्म की दृष्टि है। हमें केंद्र से परिधी की ओर रुख करने की आवश्यकता है क्योंकि कोई निश्चित या स्थायी केंद्र नहीं। अत: विकेंद्रियता एक महत्वपूर्ण बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन है।

munotes.in

९.४ आधुनिकतावाद बनाम उत्तर-आधुनिकता

यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि क्या आधुनिकता का युग समाप्त हो चुका है और उत्तर आधुनिकता इसका अगला चरण है। कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर- आधुनिकता अन्य माध्यमों से आधुनिकता का ही विस्तार या इसकी परिपूर्ति है। उत्तर-आधुनिकता केंद्रीय वर्चस्व के विपरीत स्थानियता तथा भेदों पर बल देती है जबकि आधुनिकता सार्वभौमिकता तथा एकरूपता पर आधारित है। आधुनिकता में पुनर्निर्माण, पुन:स्थापन आदि और उत्तर-आधुनिकता में वि-रचना, विकेंद्रीयकरण आदि शब्द प्रचलित है। उत्तर- आधुनिकता के सुप्रसिद्ध प्रवर्तक जाँ लियोतार के कथनानुसार उत्तर-आधुनिकतावाद एक नया युग नहीं वह आधुनिकता की विशेषताओं को दोबारा लिख रही है उन्होंने यह भी कहा कि सांस्कृतिक इतिहास में काल का कोई भेद पूर्व या उत्तर की परिभाषा में अर्थहीन है। उत्तर- आधुनिकता आधुनिकता का अंत नहीं बल्कि यह उसके भीतर हमेशा से प्रस्फुटित होने की अवस्था में मौजूद है। और यह अवस्था निरंतर जारी है। लेकिन इनमें विचारों का भेद नजरअंदाज नहीं किया जा सकता आधुनिकतावाद तथा उत्तर-आधुनिकतावाद न केवल दो अलग-अलग कालखंडों का प्रतिनिधित्व करते हैं बल्कि दो भिन्न शैलियों, सांस्कृतिक तथा सौंदर्यात्मक बोध और विमर्श पर आधारित हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकता के टेक्नोवैज्ञानिक रैखिक विकास, अनवरत प्रगति तथा क्षैतिज इतिहास, सार्वभौमिकता और अमूर्तता के मुकाबले में इस बात पर बल देता है कि प्रायः लोगों का एक समूह दूसरे समूह से अपनी मूल संरचनाओं में भिन्न होता है।

९.५ साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद

उत्तर आधुनिकतावाद का साहित्य चिंतन तथा सिद्धांत पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उत्तर- आधुनिकता की दृष्टि में कोई भी सार्वभौमिक समीक्षा पद्धति न केवल वैचारिक दमन बल्कि सौंदर्यात्मक आतंक को भी जन्म देती है। यह सार्वभौमिकता मार्क्सवादी वर्गीय सिद्धांत की हो या विश्वजनीन मानवतावाद की या फ्रायडीय अवचेतन या यौन दमन की यह सब साहित्य के महान आख्यान तथा सर्वव्यापी आलोचना सिद्धांत का स्त्रोत है। उत्तर-आधुनिकता ने किस प्रकार साहित्य सिद्धांतों को प्रभावित किया इसे हम देखेंगे-उत्तर आधुनिकतावाद किसी सर्वव्यापी शाश्वत मूल्यांकन के प्रतिमान को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि यह प्रतिमान अभिजात्य वर्ग द्वारा निर्मित किए गए हैं। इसलिए इनमें उन अल्प समूह के साहित्य को नजरअंदाज किया गया है जो कि सामाजिक परिधि पर हैं अर्थात् प्रत्येक साहित्य के लिए अलग-अलग सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है। अतः कोई सर्वमान्य मानदंड नहीं कोई एक स्वीकार्य सौंदर्यशास्त्र नहीं कोई कृति कालजयी, श्रेष्ठ या विश्वव्यापी नहीं कोई मूल तथा केंद्रीय एकीकृत, अंतिम, संपूर्ण साहित्यिक मानदंड नहीं जिन कृतियों को बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा सौंदर्यात्मक तौर पर विशिष्ट माना गया है यदि इनका विखंडन करें तो पाठ के भीतर मौजूद उप-पाठों और भाषा के पीछे छिपी अभिजात्य विचारधारा और संवेदना स्पष्ट दिखाई देने लगती है पाठ को इस

प्रकार पढ़ने को विखंडनवाद कहा गया है जो कि उत्तर-संरचनावाद का मूल बिंदु है इसका अभिप्राय यह है कि लेखक भाषीय संरचना द्वारा अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों को जितना भी छुपाने का प्रयास करें विखंडन द्वारा वे प्रकट हो ही जाते हैं उत्तर-संरचनावाद के अनुसार साहित्यिक कृति अन्य पाठों में एक पाठ है सब पाठ एकसमान हैं किसी को किसी अन्य पाठ पर वर्चस्व प्राप्त नहीं पाठ अपने अर्थ में अनेक तथा अनिश्चित हैं भाषा वह कहने में असमर्थ है जो वह कहने का दावा करती हैं हम अर्थों को स्थगित कर सकते हैं प्राप्त नहीं कर सकते उत्तर आधुनिकतावादी कई वैचारिक पद्धतियों का साहित्य चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इनमें नव-इतिहासवाद, सांस्कृतिक अध्ययन, अधीनस्थ अध्ययन तथा नारीवाद शामिल है। यह सब वैचारिक पद्धतियाँ साहित्यिक पाठ को अ-साहित्यिक दृष्टिकोण- ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नारीवादी, दलित चेतना आदि से देखती हैं और इसी दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन करती है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकतावाद साहित्य समीक्षा के स्थान पर विमर्श विश्लेषक को बैठा देता है। लेखक के अवसान की घोषणा की जाती है और पाठक के वर्चस्व को स्वीकार किया जाता है।

९.६ सारांश

उत्तर आधुनिकतावाद की प्रमुख विशेषताएं हैं-विभेद और विभिन्नता, स्थानियता और क्षेत्रीयता, पॉपुलर कल्चर और लोक कलाओं का मिलाप, बुध्दिवाद और पराभौतिकवाद पर बढ़ता अविश्वास, नारी तथा दमित-दलित विषयों का अध्ययन, महान आख्यान तथा सार्वभौमिक समालोचना सिद्धांत का पतन, अर्थ की अनेकता तथा अनिश्चितता, बहुलतावाद तथा बहु-संस्कृतिवाद, विकेन्द्रीयता, वर्ग संघर्ष की अपेक्षा नस्ल, जाति तथा लिंग भेदपर अधिक बल अर्थात् ऐसी विचार-पद्धति जिसमें वैश्विक क्षेत्रीय तथा जातीय संरचनाएँ एक-दूसरे से युद्धरत रहते हुए भी एक-दूसरे से मेलजोल भी रखती हैं। उत्तर आधुनिकतावाद का जन्म और पोषण यूरोप की विशेष ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों में हुआ है। यदि हम इसको भारतीय साहित्य तथा स्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत करना चाहते हैं तो हमें देशीय और भाषीय संदर्भों में इसे परिभाषित करना होगा।

९.७ दीर्घोत्तरी प्रश्न

१. उत्तर-आधुनिकतावाद की मूल अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?

२. उत्तर-आधुनिकतावाद की प्रमुख विशेषताएँ कौन-कौन सी हैं?

३. टिप्पणी लिखिए:

९.८ लघुत्तरीय प्रश्न

१. उत्तर आधुनिक वाद की प्रवृत्ति १८८० में किस माध्यम से प्रस्तुत हुई?

उत्तर - चित्रकला के माध्यम से

२. उत्तर आधुनिक वाद की शुरूवात कहाँ से हुई मानी जाती है?

उत्तर - जर्मनी से

३. उत्तर आधुनिकवाद का जन्म व पोषण कैसे हुआ?

उत्तर - यूरोप की सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से

४. उत्तर आधुनिकवाद किसका समर्थन करता है?

उत्तर - लोकप्रिय संस्कृति का

५. समकालीन लेखन में उत्तर आधुनिकवाद कितने अर्थों में प्रयुक्त होता है?

उत्तर - चार अर्थों में

९.९ संदर्भ पुस्तकें

१. उत्तर-आधुनिकता: साहित्य और संस्कृति की नई सोच- देवेंद्र इस्सर, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली।

२. उत्तर-आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद- सुधीश पचौरी, हिमाचल पुस्तक भंडार दिल्ली।

******

munotes.in

इकाई : ४

१०

मैथ्यू आर्नल्ड -आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य

इकाई की रूपरेखा:

१०.१ इकाई का उद्देश्य
१०.२ प्रस्तावना
१०.३ मैथ्यू आर्नल्डः आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य
१०.४ सारांश
१०.५ दीर्घोत्तरीय प्रश्न
१०.६ लघुत्तरीय प्रश्न
१०.७ संदर्भ पुस्तके

१०.१ इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान करना है।

१०.२ प्रस्तावना

मैथ्यू आर्नल्ड इंग्लैंड के एक प्रतिष्ठित कवि और आलोचक थे। उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरंम्भ किया था लेकिन वे स्वभाव और कर्म दोनों से पहले आलोचक थे और बाद में कवि। उन्होंने समाज, शिक्षा, धर्म, साहित्य, परिवेश और संस्कृति से जुड़ी समस्याओं को अपने साहित्य का विषय बनाया है। उनका अत्यंत अडिगता, स्पष्टता और पूरी तार्किकता से यह मानना है कि साहित्य जीवन की आलोचना है, समीक्षा है। उन्होंने काव्य के साथ-साथ आलोचना के लिए भी सरलता, स्वाभाविकता संयम और शुद्धता आदि अभिजात गुणों का समर्थन किया। उन्होंने काव्य को मानव संस्कृति और मानवीय मूल्यों का अक्षर स्रोत घोषित करके अपने परवर्ती आलोचकों के लिए आलोचना का नया मानदंड प्रदान किया और इस प्रकार वे आधुनिक अंग्रेजी आलोचना के प्रवर्तक के नाम से प्रसिद्ध है।

१०.३ मूल विषय

मैथ्यू आर्नल्ड : आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य

मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८ ई.) ने काव्य और जीवन के संबंधों पर गंभीरता पूर्वक विचार किया। वे प्राचीन ग्रीक चिंन्तकों में अरस्तु को अपना आदर्श मानते थे। होमर के महाकाव्य तथा यूनानी नाटककारों के दुखान्तक से प्रभावित होने के कारण उन्होंने स्वच्छंदतावादी मान्यताओं का खंडन

करते हुए प्राचीन क्लासिकल (अभिजात्यवादी) सिद्धांतों की पुन:स्थापना पर बल दिया। इस तरह मैथ्यू आर्नल्ड को यूनानी साहित्यिक आदर्शों- सिद्धांतों का उद्धारक कहा जा सकता है। वे एक ऐसी- सीमा- रेखा पर खड़ा दिखाई देते हैं जिसे प्राचीन और नवीन परंपरा एवं आधुनिकता का मिलन विंदु कहा जा सकता है।

कोई भी लेखक या कलाकार देश, काल, परिस्थिति की उपज होने के साथ-साथ वह इसमें नियंत्रित और निर्देशित भी होता है। वे इसी प्रकार के कवि -आलोचक थे। वे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के प्रोफेसर के रूप में सन् १८५७ मैं नियुक्त हुए थे। इस पद गौरव से उनके विचारों को विशिष्ट प्रबुद्ध वर्ग में प्रसार तथा स्वीकृति में सहयोग मिला।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में आई औद्योगिक क्रांति की लहर ने जहाँ एक तरफ विज्ञान को अकल्पनीयता महत्व दिया तो वहीं दूसरी तरफ धर्म, संस्कृति और काव्य को बिल्कुल निकृष्ट और त्याज्य माना। विज्ञान के कारण लोगों के जीवन में ऐसा परिवर्तन आया कि लोग धर्म को अंधविश्वास समझने लगे, जिससे मानव मन की संवेदना भावुकता आहत और कुंठित हुई, लोगों के हृदय में कविता के प्रति आकर्षण का भाव समाप्त प्रायः होने लगा। टॉमस लव्ह पीकाक नामक विचारक ने विज्ञान और काव्य के पारस्परिक संबंधों को एक सिरे से नकारते हुए यह लिखा कि ज्ञान और तर्क के इस युग में कविता का कोई स्थान नहीं होता। कविता का युग बीत चुका है।

इनके उत्तर में प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शेली ने अपने एक निबंध 'द डिफन्स ऑफ पोएट्री'में लिखा कि विज्ञान ने एक साथ काव्य, धर्म और संस्कृति के मुलोच्छेद का उपक्रम किया था। यहाँ काव्य धर्म और संस्कृति की महत्ता को प्रतिष्ठित करने वालों में शेली के पक्ष में मैथ्यू आर्नल्ड भी उतरे और यह कहा कि मानव संस्कृति और मानवीय मूल्यों का अक्षय स्रोत काव्य ही है। काव्य के संबंध में आर्नल्ड की स्पष्ट धारणा थी कि काव्य का विषयवस्तु उदात्त, महत्त्वपूर्ण और तीव्र व ग्रहण भावों पर आधारित हो, काव्य शैली अत्यन्त भव्य हो, रचना प्रक्रिया से संरचनात्मक अन्विति, अनुपात, सुसंगती या सामंजस्य का ध्यान रखा जाए तथा काव्य प्रयोजन आनंद प्राप्ति के साथ ही नैतिक मूल्यों की स्थापना हो, सामाजिक उत्थान हो। इस तरह मैथ्य आर्नल्ड ने विज्ञान की अपूर्णता की और संकेत करते हुए कहा कि कविता के बिना ज्ञान अपूर्ण है। कविता केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि वह जीवन की समीक्षा है, इसलिए आलोचक को काव्य और जीवन की संश्लिष्टता को ध्यान में रखकर ही काव्य की आलोचना करनी चाहिए।

मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता थी कि साहित्य और साहित्य की समस्याएं मनुष्य जीवन की समस्याओं से अलग नहीं होती। इस दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन जीवन के संदर्भ में ही करना चाहिए। इसके बारे में उन्होंने कहा है "साहित्य जीवन की आलोचना है। "साहित्य की आलोचना के और आलोचक के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी पूरी तैयारी के साथ आलोचना को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करते हुए स्पष्ट कहा कि आलोचना, संसार में जो भी सर्वोत्तम चिन्तन और ज्ञान है, उनके अधिराम एवं प्रचार का निस्संग प्रयास है। उनके माध्यम से ताजे

munotes.in

और सच्चे विचारों की प्रतिष्ठा होती है। आलोचना एक बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करती है जिससे रचनात्मक प्रतिभाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है।

मैथ्यू आर्नल्ड के व्यक्तित्व में कवि की अपेक्षा आलोचक रूप अधिक प्राधान्य था। उन्होंने आलोचक और रचना आलोचक तथा समाज के परस्पर संबंधों के विषय में अत्यंत मूल्यवान विचार रखें, जिसमें अंग्रेजी जाति के मन -मस्तिष्क को बहुत समय तक प्रभावित किया, वे उनकी सबसे बड़ी देन माने जाते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने समीक्षा कार्य को सर्जनात्मक शक्ति का कार्य मानते हुए यह कहा कि-"समीक्षा के बिना उत्कृष्ट काव्य का निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि युग को पहचानने के लिए समीक्षा शक्ति की आवश्यकता है। जगत को जीवन और जगत को विशद रूप में जानने की आवश्यकता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला की समाज के प्रति एक आलोचक का क्या कर्तव्य हैं? आलोचक में कौन-कौन से गुण होने चाहिए? उन्हें किन-किन सिद्धांतों के आधार पर श्रेष्ठतम कविताएँ चुन-चुनकर उनका प्रसार करना चाहिए। इस संदर्भ में वे आलोचक में मुख्यत: तीन गुणों को अनिवार्य मानते हैं -

१) आलोचक साहित्य को पढ़ें, समझे और वस्तुओं का यथार्थ रूप देखें।

२) जो कुछ आलोचक ने सीखा है, उसे वह दूसरों को हस्तांन्तरित करे, जिससे उत्तम भावनाएँ सभी जगह प्रबलता प्राप्त करें तथा संसार बदल सके। उसका अर्थात आलोचक का कार्य धर्म प्रचारक जैसा उत्साह पूर्ण और कर्मठतायुक्त होना चाहिए।

३) आलोचक रचनात्मक शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करें, जिससे अवसर और अनुकूल समय मिलते ही साहित्यकार उसमें सृजनात्मक साहित्य की लहलहाती फसल पैदा कर सके और उससे संसार का पोषण कर सके। ऐसा करके आलोचक समाज को पूर्णता की ओर ले जा सकेगा, उसे सिखा सकेगा कि किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस प्रकार आलोचक संस्कृति के विकास में योगदान कर सकेगा।

इस तरह, मैथ्यू आर्नल्ड के मतानुसार आलोचक के लिए संस्कृति का नैतिक पक्ष देखना आवश्यक है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने यह माना है कि आलोचक को निष्पक्ष आलोचना करनी चाहिए। उन्होंने आलोचक को निष्पक्ष होने का तात्पर्य आलोचक की निरपेक्ष दृष्टि, पूर्वाग्रहविहीनता तथा तटस्थ होकर रचना का विवेचन करने वाला माना है। उन्होंने निष्पक्ष शब्द को संकुचित तथा अपने मन के अनुकूल, अपने विचारों के अनुरूप अर्थ प्रदान किया है। आर्नल्ड की दृष्टि में निष्पक्ष आलोचक वह है जो नैतिक सांस्कृतिक पूर्णता के प्रति उन्मुख रहता है, और जीवन की भद्दी तथा सामान्य रुचियों से प्रभावित नहीं होता है। उन्होंने माना कि आलोचक को असभ्य और अभिजात्य दोनों के पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए, साधारण जन समूह की अंधी भावमयता से मुक्त होना चाहिए, संतोषी मध्यमवर्ग के झुठे विचारों से भी बचना चाहिये, क्योंकि इस वर्ग के लोग रूढ़िवादिता, धर्मान्धता, व्यापार, धनार्जन और विलास में लिप्त रहने के अलावा कुछ नहीं करते, असभ्य और अभिजात्य वर्ग गंभीर विचार तथा ज्ञान के

munotes.in

आलोक की पहुंच से बाहर होते हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि आलोचक के निष्पक्ष होने का जो अर्थ मैथ्यू आर्नल्ड ने लगाया है वह उनका अपना अर्थ है, उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। उनकी आलोचना की आलोचना बर्न्स और किट्स ने भी की है।

मैथ्यू आर्नल्ड का यह मत है कि शक्तिशाली आलोचक सृजनात्मक साहित्य हेतु उपजाऊ भूमि तैयार करता है, विचारों का अनुसंधान करके उनका प्रतिपादन करता है, पर यह कार्य केवल वही नहीं करता। उन्होंने आलोचक को आवश्यकता से अधिक श्रेय, महत्व प्रदान किया है। यह सत्य है कि महान आलोचक भौतिक जीवन की यांत्रिकता से मुक्त रहता है, ज्ञान के लिए ज्ञान अर्जन करता है, विचारों को उनके माधुर्य और आलोक के कारण चाहता है, सर्वश्रेष्ठ विचारों का प्रचार करता है, जीवन में उन विचारों को रूपांतरित करने का प्रयत्न करता है और अपने उन विचारों और ज्ञान को संसार तक पहुँचाता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचकों को बहुत अधिक महत्व दिया है।

साहित्य में दो प्रकार की प्रतिभा कार्य करती है:-

१) कारयित्रि प्रतिभा और २) भावयित्रि प्रतिभा

कारयित्रि प्रतिभा का कार्य साहित्य की रचना करना है। भावयित्रि प्रतिभा का कार्य काव्य को समझना और उसकी आलोचना या समीक्षा करना है। संस्कृत साहित्य में भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है कि कारयित्रि प्रतिभा यदि होगी ही नहीं, तो भावयित्री प्रतिभा की तहत आलोचक किसकी आलोचना करेगा? जैसे पहले आबादी बसती है उसकी व्यवस्था के लिए नगरपालिका या ग्रामपंचायत बाद में आता हैं। भाषा पहले विकसित होती है। व्याकरण उसकी व्यवस्था के लिए बाद में आता है। ठीक वैसे ही कवि पहले काव्य रचना करता है, उनकी समीक्षा या आलोचना बाद में होती है। मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता इससे भिन्न थी। उन्होंने कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के अंतर और महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है- "किसी युग की वास्तविकता को पकड़ना, मनुष्य की कारयित्री प्रतिभा का काम नहीं है। यह काम मनुष्य की समीक्षात्मक शक्ति का है। धर्मशास्त्र, दर्शन, इतिहास, कला, विज्ञान आदि ज्ञान की सभी शाखाओं में वस्तु को ' जैसी वह स्वयं में है 'उसे उस रूप में देखना समीक्षात्मक शक्ति का ही काम है। इस प्रकार यह शक्ति एक ऐसी बौद्धिक परिस्थिति का निर्माण कर देती है, जिसका उपयोग करके कारयित्री शक्ति अर्थात साहित्य सर्जन की शक्ति अपना कार्य करती है। " मैथ्यू आर्नल्ड की इस मान्यता से सहमत होना तर्क सम्मत नहीं है। कारण यह है कि एक ही व्यक्ति में कारयित्री प्रतिभा के साथ- साथ भावयित्री प्रतिभा का नैसर्गिक गुण भी विद्यमान होना संभव है। एक ही मनुष्य रचनाकार और आलोचक दोनों हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मैं वह अत्यंत उत्कृष्ट साहित्यिक सृष्टि की रचना करता है क्योंकि उसकी समीक्षात्मक शक्ति उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों से प्रभावित करती है। इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य को प्रतिपादित करने में अपनी अहम भूमिका निभाते हैं।

१०.४ सारांश

मैथ्यू आर्नल्ड का मानना है कि काव्य और जीवन का अन्योन्याश्रित संबंध है। किसी एक के अभाव में दूसरा संभव नहीं है। जीवन में जो कुछ जिस रूप में चलता है कविता में उसी की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने विज्ञान को अपूर्ण माना और यह भी कहा कि कविता के बिना ज्ञान अपूर्ण है। कविता सिर्फ आनंद प्राप्ति का माध्यम या मनोरंजन का साधन नहीं है बल्कि यह हमारे जीवन की समीक्षा है इसलिए किसी भी आलोचक को काव्य और जीवन की संश्लिष्टता को केंद्र में रखकर ही काव्य की आलोचना करनी चाहिए।

मैथ्यू आर्नल्ड के पहले आलोचना के क्षेत्र में अनेक अनेक असंगतियाँ, अस्पष्टता और बिखराव की स्थितियाँ थीं। उन्होंने उसे एक गंभीर संतुलित, स्वच्छ और पूर्ण विश्लेषण -पद्धति के रूप में विकसित किया। आलोचना को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार " संसार में जो भी सर्वोत्तम चिंतन और ज्ञान है उसके अधिगम एवं प्रचार का निस्संग प्रयास है। उसके माध्यम से ताजे और सच्ची विचारों की प्रतिष्ठा होती है। "इस प्रकार आलोचना एक बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करती है, जिससे प्रतिभाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है।

काव्य रचना में आर्नल्ड ने चार बातों पर ध्यान केंद्रित करने का आग्रह किया १) काव्य की विषय वस्तु अत्यन्त व्यापक, उत्कृष्ट, भव्य, और महत्वपूर्ण होनी चाहिए। २) रचना प्रक्रिया के क्रम में कवि को संरचनात्मक अन्विति, अनुपात, सुसंगती या सामंजस्यपूर्ण होना चाहिए। ३) वर्णन में भव्य शैली का प्रयोग अनिवार्य है। ४) काव्य-प्रयोजन आनंद या मनोरंजन के साथ-साथ नैतिक उन्नानयन या नैतिक मूल्यों का विकास होना चाहिए।

मैथ्यू आर्नल्ड ने जिस प्रकार आलोचना को एक समग्र एवं पूर्ण जीवन दृष्टि के रूप में देखा वैसे ही रचना को भी वे भव्य विषय वस्तु भव्य शिल्प दोनों स्तरों पर सामंजस्य और संतुलित देखना चाहते थे।

अंततः मैथ्यू आर्नल्ड सब मिलाकर चाहे आलोचना हो या रचना, प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता चाहते थे। उनके अनुसार काव्य के माध्यम से ही संस्कृति समग्रतः अभिव्यक्त होती है। काव्य ही संस्कृति का सर्वोत्तम साधन है और संस्कृति जीवन की पूर्णता का पर्याय है। अर्नाल्ड यूनानी दर्शनिक अरस्तु के काव्यादर्शों से प्रेरित थे उन्होंने आलोचना को एक स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने आलोचना को सिद्धांत एवं व्यवहार दोनों स्तरों पर समग्रता, पूर्णता और पारदर्शिता प्रदान की। उन्होंने अपनी बहुत अच्छी गहनतम तैयारी के बाद आलोचना-कर्म को महत्वपूर्ण मानते हुए स्वीकारा। वे स्वयं एक कवि थे, इसलिए काव्य के मर्म को समझने में वे पूर्णतः समर्थ थे। यही कारण है कि अंग्रेजी आलोचना के इतिहास में वे एक युग निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

munotes.in

१०.५ दीर्घोत्तरीय प्रश्न

१. मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा प्रतिपादित आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य पर प्रकाश डालिए।

२. मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार आलोचना का स्वरूप और आलोकित करते हुए प्रकार्य के विषय में लिखिए।

३. मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचना का जो स्वरूप मान्य किया है, उस पर प्रकाश डालते हुए प्रकार्य का परिचय दीजिए।

४. "मैथ्यू आर्नल्ड को अंग्रेजी आलोचना का प्रवर्तक माना जाता है।" कैसे? आलोचना के स्वरूप और प्रकार्य पर प्रकाश डालते हुए लिखिए।

५. आलोचना का स्वरूप और प्रकार्य के संबंध में मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यताओं पर प्रकाश की आलोचना डालिए।

१०.६ लघुत्तरीय प्रश्न

प्र.१ अंग्रेजी आलोचना साहित्य का प्रवर्तक किसे माना जाता है?
उत्तर - मैथ्यू आर्नल्ड

प्र.२ मैथ्यू आर्नल्ड ने अपना साहित्यिक जीवन किस रूप में आरंम्भ किया था?
उत्तर - एक कवि के रूप में

प्र.३ मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार रचनात्मक साहित्य क्या है?
उत्तर - जीवन की आलोचना है।

प्र.४ मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार किसके लिए भूमि तैयार करना आलोचक का कर्तव्य है?
उत्तर - कवि के लिए।

प्र.५ मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचना के लिए क्या आवश्यक माना है?
उत्तर - आलोचना का निष्पक्ष होना आवश्यक माना है।

प्र.६ मैथ्यू आर्नल्ड के जीवन का आदर्श कौन था?
उत्तर - अरस्तु

प्र.७ 'कल्चर एण्ड एनार्की 'किस विद्वान का प्रसिद्ध निबंध है?
उत्तर - मैथ्यू आर्नल्ड

प्र.८ 'द फंक्शन आफ क्रिटिसिज्म एट द प्रेजेंण्ट टाईम' किसके द्वारा प्रकाशित आलेख है?
उत्तर - आर्नल्ड

प्र.९ मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार काव्य मे सबसे महत्त्वपूर्ण क्या होना चाहिये?
उत्तर - विषय वस्तु

प्र.१० मैथ्यू आर्नल्ड के काव्य प्रयोजन के लिए आनन्द के साथ साथ और किसे महत्व दिया?
उत्तर - नैतिक उन्नयन या नैतिक मूल्यों को।

१०.७ संदर्भ पुस्तकें

१. भारतीय एवं पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी आलोचना - डॉ. रामचंद तिवारी-प्रकाशक-संजय बुक सेंटर, वाराणसी

२. काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन-हरिष प्रकाशन मंदिर, आगरा

३. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा आलोचना- प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह- श्यामा प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद

४. पाश्चात्य काव्य चिंतन - प्रो . करुणाशंकर उपाध्याय-राधाकृष्ण प्रकाशन

५. पाश्चात्य काव्यशास्त्र-डॉ. त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव डॉ. गंगा सहाय

६. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत-गणपती चंद्रगुप्त

७. पाश्चात्य काव्यशास्त्र इतिहास सिद्धांत और वाद-डॉ. भागीरथ मिश्र

८. पाश्चात्य काव्यशास्त्र-देवेंद्रनाथ शर्मा

******

munotes.in

इकाई : ४

११

टी. एस. इलियट

इकाई की रुपरेखा

११.० इकाई का उद्देश्य

११.१ प्रस्तावना

११.२ टी. एस. इलियट द्वारा अभिव्यक्त सिद्धांत

  ११.२.१ परम्परा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा

  ११.२.२ निर्वैयक्तिक्ता का सिद्धांत

  ११.२.३ वस्तुनिष्ठ समीकरण

११.३ सारांश

११.४ दीर्घोत्तरीय प्रश्न

११.५ लघुत्तरीय प्रश्न

११.६ संदर्भ पुस्तके

११.१ इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को पाश्चात्य साहित्यकार और विचारक टी. एस. इलियट की परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत और वस्तुनिष्ठ समीकरण का गहन विश्लेषण समझाना है।

११.२ प्रस्तावना

टी. एस. इलियट का जन्म अमेरिका के सेंट लुइ में २६ सितंबर १८८८ ई. में हुआ था। इनका पूरा नाम थॉमस स्टर्नस इलियट (Thomas Sterns Eliot) था। ये अंग्रेजी साहित्य के सर्वाधिक प्रतिभा संपन्न, प्रतिष्ठित कवि और आलोचक थे। अपने छात्र जीवन में इन्होंने संस्कृत और पाली भाषा का भी अध्ययन किया था।

इन्होंने सन १९१० में हावर्ड विश्वविद्यालय से एम. ए. किया था। सन १९१५ में वे लंदन बस गए थे। १९२५ में वे वहीं के प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान 'फेबर एंड फेबर' के निदेशक नियुक्त हुए थे। इस संस्थान से 'द क्राइटेरियन' नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी। इलियट इसके संपादक थे। इसी पत्रिका के माध्यम से इनके कवि और आलोचक व्यक्तित्व का विकास हुआ। हालाँकि इनकी समीक्षा की कोई व्यवस्थित पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी परंतु समय-समय पर प्रकाशित इनके आलेखों, निबंधो और

टिप्पणियों को संग्रहित कर के पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया था। इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ है - ‘द सेक्रेड वुड’ (१९२०), ‘सिलेक्टेड एसेज’ (१९१७-३२), ‘द यूज ऑफ पोयट्री एण्ड द यूज ऑफ क्रिटिसिज्म’(१९३३), ‘एलिजाबोथियन एसेज’ (१९३८), पोयट्री एण्ड ड्रामा’ (१९५१), ‘दि थ्री यूजेज ऑफ पोयट्री’, ‘सिलेक्टेड प्रोज’ (१९५३) और ‘ऑन पोयट्री एण्ड पोयट्स’। उन्हें सन १९४९ में साहित्य के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

टी. एस. इलियट, पाश्चात्य काव्यशास्त्र में साहित्य के क्षेत्र में परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत, वस्तुनिष्ठ समीकरण और संवेदनशीलता का असाहचर्य के लिए विश्वविख्यात हुए हैं।

११.२ टी. एस. इलियट द्वारा अभिव्यक्त सिद्धांत

आधुनिक काल के पाश्चात्य समीक्षकों में टी. एस. इलियट (१८८८-१९६५) का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे बीसवीं शताब्दी के महान कवियों में से एक है। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है - Tradition and Individual Talent’, जिसमें साहित्य के आधारभूत और मौलिक समस्याओं और विचारों को प्रभावोत्पादक रूप में रखा गया है, उन पर चिंतन-मनन किया गया है।

समीक्षा के क्षेत्र में टी. एस. इलियट के विचारों ने एक नई क्रांति उत्पन्न कर दी। उनके विचारों ने पाश्चात्य समीक्षा को हिला कर रख दिया। उन्होंने समीक्षा या आलोचना के क्षेत्र में अनेक सिद्धांतों पर अपने विचार रखें उनके द्वारा अभिव्यक्त सिद्धांत है -

१) परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा

२) निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

३) वस्तुनिष्ठ समीकरण

११.२.१) परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा :-

टी. एस. इलियट से पहले स्वच्छंदतावाद की धारा प्रवाहित हो रही थी स्वच्छंदतावादी, कवि की प्रतिभा और अंत:प्रेरणा को ही काव्य सृजन का मूल्य मानकर, प्रतिभा का दैवी गुण स्वीकार करते थे। इसे ही वैयक्तिक काव्य सिद्धांत (Personalistic Theory of Poetry) कहा गया। स्वच्छंदतावादी कविता को आत्मनिष्ठ मानते थे। टी. एस. इलियट ने इसका पुरजोर विरोध करते हुए अपने निबंध परंपरा एवं वैयक्तिक प्रज्ञा (Tradition & Individual Talent) में परंपरा को महत्व देते हुए कहा कि परंपरा के अभाव में कवि छाया-मात्र है और उसका कोई अस्तित्व नहीं होता टी. एस. इलियट ने देखा कि चारों तरफ अव्यवस्था फैली हुई है और साहित्य अपने उद्देश्य से अत्यंत दूर होता जा रहा है। उन्हें समसामायिक कविता परंपरा से कटी हुई लगी, इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम कविता के क्षेत्र में व्यवस्था स्थापित की वैयक्तिकता की बढ़ती हुई भिन्न-भिन्न भावनाओं में व्यवस्था स्थापित करने के लिए अनेकता को एकता के सूत्र में बांधने का विचार रखा और इसके लिए परंपरा को अनिवार्य तत्व

munotes.in

माना। और परंपरा से कटे हुए वैयक्तिकतावाद की विभिन्नताओ को इलियट ने सबसे पहले परंपरा से जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया और इसके पक्ष में स्वर ऊंचा किया। उन्होंने परंपरा के संबंध में कहा कि " परंपरा अत्यंत महत्वपूर्ण वस्तु है इसे विरासत रूप में उपलब्ध नहीं किया जा सकता है यदि कोई इसे प्राप्त करना चाहता है तो उसे श्रम करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम ऐतिहासिक बोध की आवश्यकता है ऐतिहासिक बोध का अर्थ - न केवल अतीत को उसके अस्तित्व में देखना, अपितु उसे उसके वर्तमानत्व में भी देखना। " उन्होंने यह भी स्वीकार किया और लिखा कि "परंपरा को छोड़ देने से हम वर्तमान को भी छोड़ बैठेंगे। परंपरा से मेरा तात्पर्य उन सभी सामाजिक कार्यों, रीति-रिवाजों, धार्मिक कृत्यों से लेकर नवागंतुक युग को अभिवादन करने के एकीकृत तरीके से है जो स्थान स्थान में रहने वाले एक संप्रदाय के व्यक्तियों के रक्त संबंधों को व्यक्त करते हैं। "

टी. एस. इलियट, टी. ई. ह्युम और एजरा पाउन्ड दो कवियों और विचारकों से प्रभावित थे। ये दोनों विद्वान परंपरावादी थे और स्वच्छंदतावाद तथा विकासवाद के विरोधी थे। इलियट ने स्वयं को भी परंपरावादी स्पष्ट रूप से माना और यह इस तथ्य की पुष्टि की, कि परंपरा का महत्वपूर्ण तत्व इतिहास बोध(Historical Sense) है। परंपरा से उनका तात्पर्य अंधानुकरण नहीं है और न ही प्राचीन रूढ़ियों का (चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो) मूक अनुमोदन है, अपितु परंपरा प्राचीन काल के साहित्य, धारणाओं का सम्यक् बोध ही है। वे परंपरा से प्राप्त ज्ञान का अर्जन और उसके विकास के पक्षधर है। यही परंपरा का गत्यात्मक स्वरूप है-" आग्रह इस बात का होना चाहिए कि कवि को अतीत की चेतना का विकास अथवा अर्जन करना चाहिए और फिर जीवन भर इस चेतना को निरंतर विकसित करते रहना चाहिए। " इलियट के अनुसार साहित्य एक अविच्छिन्न एवं अखंड धारा है। अतीत और वर्तमान उसके दो छोर है जो एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। अतएव परंपरा का एक स्वरूप तो अतीत में प्रवाहित होता है और दूसरा वर्तमान संदर्भो और परिवेशों में अनुस्यूत रहता है। कवि की चेतना में जब समाज, जाति व देश की अखंड भावना का सतत विकासशील सत्य प्रकाशित हो जाता है, तब अतीत और वर्तमान का केवल सामंजस्य ही स्थापित नहीं होता वरन वर्तमान के संदर्भ में अतीत के मूल्यांकन के नए सूत्र भी प्राप्त होते हैं। इलियट ने महान काव्य की रचना के लिए अतीत या इतिहास का पूरा ज्ञान, संस्कृति का विस्तृत ज्ञान आवश्यक माना है साथ ही अनुभव एवं ज्ञान की परिपक्वता या प्रौढता को आवश्यक माना है। यह परिपक्वता तीन बातों से उपलब्ध होती है -

i) मस्तिष्क की प्रौढता

ii) शील की प्रौढता

iii) भाषा शैली की प्रौढता

I) मस्तिष्क की प्रौढता :-

मस्तिष्क की प्रौढता के लिए ऐतिहासिक ज्ञान और ऐतिहासिक चेतना आवश्यक है जिसका तात्पर्य है कि कवि को अपने देश और जाति के इतिहास के साथ-साथ अन्य सभ्य जातियों के इतिहास का ज्ञान भी होना चाहिए।

ii) शील की प्रौढता :-

शील की प्रौढता का तात्पर्य है कि कवि के सामने आदर्श, उदात्त और उच्च चरित्रों के गुणों का स्वरूप स्पष्ट हो। इसके आधार पर ही कवि आदर्श चरित्रों का निर्माण कर सकता है।

iii) भाषा शैली की प्रौढता :-

भाषा शैली की प्रौढता के लिए आवश्यक है कि पूर्ववर्ती महान कवियों की रचनाओं की भाषा का भली-भाँति अध्ययन किया जाए।

इलियट परंपरा का संबंध संस्कृति से मानते हैं। संस्कृति में किसी जाति या समुदाय के जीवन, कला, दर्शन, साहित्य आदि के उत्कृष्ट अंश सन्निविष्ट रहते हैं। संस्कृति में एक प्रकार की निरंतरता रहती है। उसकी प्राप्ति के लिए अतीत को प्रयत्न पूर्वक जानना जरूरी है। वस्तुतः अतीत के आलोक में ही वर्तमान के स्वरूप का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, एक प्रकार से अतिथि वर्तमान का दिशा निर्देशन करता है। अतीत और वर्तमान परस्पर पूरक है. ।

इलियट संस्कृति को धर्म से भिन्न मानते हैं तथापि वह धर्म द्वारा नियंत्रित होती है। वे संस्कृति के निर्माण में कला और साहित्य का योग भी स्वीकार करते हैं। अतः कलाकार को संस्कृति की सांस्कृतिक परंपरा का पूर्ण बोध होना चाहिए।

टी. एस. इलियट ने अपनी परंपरा की परिकल्पना सिद्धांत को स्थापित करते हुए यह कहा कि कविता स्वतंत्र है तथा कविता उपयुक्त माध्यम पाकर अर्थात कवि का मस्तिष्क पाकर स्वयं अभिव्यक्त होती है, स्वयं अवतरित हो जाती है। इस प्रकार कवि कविता लिखता नहीं है, अपितु कविता स्वयं कवि के माध्यम से कागज पर शब्द विधान से उतर आती है, कविता उत्पन्न होती है, की नहीं होती है अर्थात कवि कविता की रचना नहीं करता है। कविता में कवि की व्यक्तिगत प्रज्ञा नहीं होती है। दूसरी महत्वपूर्ण स्थिति है- कवि के व्यक्तित्व का कविता में सन्निवेश अथवा संस्पर्शन मानना। इस सिद्धांत में भावों की महत्ता की अपेक्षा कला प्रक्रिया को महत्वपूर्ण माना गया है।

कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा अथवा कवि के व्यक्तिगत भावों के संबंध में इलियट का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है "मैं विश्वास करता हूँ की कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किंतु यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों के द्वारा स्वयं प्रभावित नहीं होता है।"

इलियट के इस कथन के आधार पर माया अग्रवाल ने लिखा है-" इस कथन में कवि के व्यक्तित्व और कलाकृति के आदान-प्रदान एवं संस्पर्श की भावना सहज स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इलियट द्वारा मान्य 'काव्य के तीन स्वर भी इसी और निर्देश करते हैं। इलियट के अनुसार काव्य का प्रथम स्वर वह है, जिसमें कवि स्वयं से बात करता है। दूसरा स्वर वह है जिसमें कवि अन्य से बात करता है। और तीसरे स्वर से कवि पात्रों के माध्यम से बात करता है। पहला स्वर कवि के अपने भावों की संप्रेषणीयता से संबद्ध है, दूसरे में विशेष उद्देश्य की प्रधानता होती है, जैसे- महाकाव्य, नीति काव्य आदि। तीसरा स्वर्ण नाटकों से संबंधित है। इनमें दूसरा और तीसरा स्वर कवि की सजगता एवं प्रबुद्धता से निर्मित होता है। इनमें कवि का व्यक्तित्व विशेष रूप से उभर कर सामने आता है। इनमें वह व्यक्तित्व से

पलायन का निर्माण करता है। फिर भी इन तीनों स्वरों की कविता में विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। कवि के व्यक्तित्व से रहित कविता भाषण हो सकती है, कविता नहीं। अतः कहना होगा कि इलियट ने कवि के व्यक्तित्व के महत्व को ही प्रतिपादित किया है। ”

कवि के व्यक्तित्व का महत्व ही आलोचना की भाषा में वैयक्तिक प्रज्ञा है। इससे स्पष्ट है कि प्रारंभिक कविता में कवि की निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रबल समर्थक व आलोचक इलियट बाद में वैयक्तिक प्रज्ञा का पक्षधर हो गया था।

इस तरह, यहाँ हमने इलियट की परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन किया। इसी संदर्भ में हम आगे उनके निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत की चर्चा करेंगे।

११.२.२) निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत:-

निर्वैयक्तिकता को अंग्रेजी में ‘इंपर्सनल थ्योरी ऑफ पोयट्री (Impersonal Theory of Poetry) कहा जाता है। इलियट, एजरा, पाउण्ड के विचारों से प्रभावित और सहमत हुए हैं, निर्वैयक्तिक प्रज्ञा उन्हीं की मान्यता है। एजरा, पाउण्ड ने स्वीकार किया है की कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक (Impersonal) तथा वस्तुनिष्ठ (Objective) होता है। कवि का कार्य आत्मनिरपेक्ष होता है। इलियट ने अनेकता को एकता में बांधने के लिए परंपरा को आवश्यक माना था। इस प्रकार काव्य में आत्मनिष्ठ तत्व पर नियंत्रण हो जाता है और वस्तुनिष्ठ तत्व प्रमुख होता है।

इलियट, कला को भी निर्वैयक्तिक घोषित करते हुए काव्य की अवधारणा के लिए कवि के मन को केवल माध्यम स्वीकार करते हैं। काव्य की प्रक्रिया पुनः स्मरण नहीं है अपितु एकाग्रता का प्रतिफल है जिसकी रचना के लिए कवि को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, वह कवि-हृदय से स्वत: अवतरित हो जाती है। इस संदर्भ में इलियट का कथन है-” कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता है, अपितु वह विशिष्ट माध्यम मात्र है। ” इस तथ्य को वे एक उदाहरण के माध्यम से व्यक्त करते हैं कि ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड के कक्ष में यदि प्लैटिनम का तार डाल दिया जाए तो ऑक्सीजन और डायोक्साइड मिलकर सल्फर एसिड बन जाते हैं, परंतु प्लैटिनम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न एसिड में प्लैटिनम का कोई चिन्ह दिखाई देता है। कवि का मन भी प्लैटिनम का तार है। इस तरह कवि व्यक्तिगत की अभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् वह विशिष्ट माध्यम मात्र है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है, वरन उससे पलायन कला है। कलाकार या कवि साहित्य सृजन हेतु परंपरा से कुछ लेता है और परंपरा को कुछ देता है। इस प्रक्रिया में परंपरा से लेने के लिए कलाकार को आत्म-अवसान या कुछ त्याग करना पड़ता है। इस संदर्भ में इलियट ने कहा है - “The progress of an artist is a continual self sacrifice, a continual extinction of personality.”

कलाकार की उन्नति का आधार व्यक्तित्व-विरहित होना और व्यक्तित्व का परित्याग ही है। कला के क्षेत्र में यह प्रक्रिया ही निर्वैयक्तिकरण (Depersonalisation) की प्रक्रिया कही जाती है।

इस प्रकार इलियट काव्य में कवि व्यक्तित्व को महत्व नहीं देता। उसकी धारणा है-" कविता इसलिए महान नहीं होती है, क्योंकि उसमें कवि-व्यक्तित्व का अवरोपण है अथवा कवि ने उसमें कोई महान वैयक्तिक संदेश दिया है, महान उद्भावना की है, वरन् कविता इसलिए महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि उसमें रचनाकार का वह निस्पृह मस्तिष्क कार्यरत होता है जो विशिष्ट एवं विभिन्न भावनाओं की स्वच्छंदतापूर्वक बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह के मिश्रण करके एक नवीन सृजन करता है। " रचना की इसी निर्वैयक्तिकता, निस्पृहता तथा तटस्थता को महत्वपूर्ण मानने के कारण ही उसने लिखा कि जितना अधिक कलाकार पूर्ण होगा, उतना ही अधिक कलाकार एवं उसके सृजन-संलग्न आक्रांत मन में पृथकत्व होगा।

इलियट ने निर्वैयक्तिकता के दो रूपों को स्वीकार किए पहला- प्राकृतिक- जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए होती है तथा दूसरा- विशिष्ट-प्रौढ कलाकारों द्वारा उपलब्ध निर्वैयक्तिकता। इलियट की मान्यता है कि "प्रौढ कवि का वैयक्तिक अनुभव- क्षेत्र भी निर्वैयक्तिक ही होता है।

कविता के निर्वैयक्तिक सिद्धांत के अनुसार कविता का जीवन स्वतंत्र है और वह उपयुक्त माध्यम (कवि मस्तिष्क) पाकर स्वयं अवतरित हो जाती है। इस प्रकार कवि कविता लिखता नहीं है, वरन् कविता स्वयं कवि के माध्यम से शब्द-विधान द्वारा कागज पर उतर आती है। वह उत्पन्न होती है, उत्पन्न की नहीं जाती। इसे उन्होंने कविता को कला- प्रक्रिया माना। उन्होंने भावों की अपेक्षा कला-प्रक्रिया को महत्वपूर्ण माना और कवि के सन्निवेश को अस्वीकार किया।

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि इलियट के अनुसार निर्वैयक्तिकता का अर्थ है-' कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण, जिसमें कवि अपने निजी भावों को कविता में इस प्रकार प्रस्तुत करता है जिसमें वे सर्व सामान्य के भाव बन जाते हैं। कवि अपनी तीव्र संवेदना एवं गहण क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को इस प्रकार ग्रहण करता है कि वे अनुभूतियाँ उसकी निजी अनुभूतियाँ प्रतीत होती है। इन अनुभूतियों को वह इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह मत सभी को ग्राह्य हो जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसी को ' साधारणीकरण' सिद्धांत भी व्यक्त करता है।

हालांकि इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत इतना उलझा हुआ है कि इसे स्वयं इलियट भी नहीं समझ पाए हैं। उन्होंने इसके विषय में पहले जो कुछ कहा है, बाद में उससे विपरीत बातें कही है। उन्होंने स्वयं अपने प्रारंभिक विचारों और निष्कर्षों के लिए कहा कि मैं उस समय ठीक से समझ नहीं पाया था। इस दृष्टि से इलियट का निर्वैयक्तिकता सिद्धांत आगे के कवियों और आलोचकों के द्वारा मान्य नहीं हुआ। कवि को माध्यम और मशीन बताना उनका अपमान करना है। अगर कविता का स्वयं अवतरण होता है तो फिर प्रत्येक मनुष्य कवि क्यों नहीं बन जाता?

११.२.३) वस्तुनिष्ठ समीकरण :-

टी. एस. इलियट ने अपनी आलोचनात्मक सिद्धांतों में विशेष रुप से दो बातें कही है - निर्वैयक्तिक प्रज्ञा और वस्तुनिष्ठ समीकरण। वास्तव में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा और वस्तुनिष्ठ समीकरण में विशेष अंतर नहीं है। इलियट के अनुसार कवि कविता की रचना करते समय व्यक्तिगत भावों या विचारों को प्रकट न करके किसी वस्तु का अलंकार पूर्ण वर्णन करता है। वर्ण्य- वस्तु की कविता में प्रधानता ही वस्तुनिष्ठ समीकरण है।

इलियट ने इस बात को स्पष्ट किया है कि कला में भाव प्रदर्शन का एक ही मार्ग है और वह है वस्तुनिष्ठ समीकरण। इलियट द्वारा प्रतिपादित वस्तुनिष्ठ समीकरण को वस्तु योजना विभाव विधान या मूर्त विधान के नाम से जाना जा सकता है। कवि जब काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में कोई एक ही भाव प्रेरक रहता है किंतु बाद में अनेक भाव संवेदन व विचार परस्पर मिलने लगते हैं व काव्य की परिणति या समाप्ति होते-होते न जाने कितने भावों, संवेदनाओं व विचारों का सम्मिश्रण व विलयन हो चुका होता है। इलियट के अनुसार अमूर्त का प्रत्यक्ष संप्रेषण नहीं हो सकता। किसी मूर्त वस्तु की सहायता से अमूर्त का संप्रेषण होता है। अतः कवि अपनी संवेदनाओं व अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुमुलक चिन्हों, प्रतीकों का प्रयोग करता है। इस तरह अमूर्त भावों, संवेगो, विचारों एवं अनुभूतियों के संप्रेषण हेतु कवि को ऐसी वस्तुस्थिति, घटना का विन्यास करना चाहिए, जिसमें उसके भाव वस्तुओं में पर्यवासित होकर पाठक या श्रोता के ह्रदय में उसी भाव को जागृत कर सके। कवि अपने भावों के मूर्ति करण के प्रति जितना सजग और सक्षम होगा, संप्रेषण में उसे उतनी ही सफलता मिलेगी।

कवि अपनी संवेदनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए मूर्त विधान से काम लेकर अमूर्त को मूर्त कर देता है। परिणामतः इन प्रतीकों से ठीक वही भावनाएँ श्रोता या पाठक के मन में जाग्रत होती हैं जो कवि के मन में जाग्रत हुई थी। काव्य की सफलता इसी में है की भावनाओं और उसके मूर्त विधान में पूर्ण सामंजस्य एवं एकरूपता हो। इलियट की यह सूत्र व्याख्या कुछ इस प्रकार है-

१. भाव अमूर्त होता है। अतः उसकी अभिव्यक्ति किसी मूर्त वस्तु की सहायता से ही संभव है।

२. जिस किसी वस्तु से जिस किसी भाव की अभिव्यक्ति, अभिव्यंग्य भाव अभिव्यंजक वस्तु में ऐसा संबंध होना चाहिए कि उस वस्तु से वह भाव अभिव्यक्त हो सके। यह वस्तु शब्द से वैसी वस्तु अभिप्रेत है जो एक और तो कवि के भाव को अभिव्यक्त करें और दूसरी ओर भावक के मन में तत्सदृश भाव उत्पन्न करें।

३. इस तरह मूर्त विधान का कोई निश्चित रूप नहीं है।

४. बाह्य वस्तुओं की सहायता से भावक के मन में वैसे ही भाव उठते हैं जैसे कवि के मन में उत्पन्न हुए थे।

इलियट मानते हैं कि कवि अपनी भावना के लिए कुछ शब्द विधान, कुछ वस्तु, कुछ घटना और कुछ परिस्थिति प्रस्तुत करते चलता है। ये शब्द, वस्तु और घटना, कवि की भावना आदि स्थान पर कविता में प्रयुक्त होते हैं। इलियट ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव शब्द इस्तेमाल करते हैं। वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धांत इलियट का मौलिक उद्भावना नहीं है। इस सिद्धांत का सर्वप्रथम संकेत अरस्तु के काव्य शास्त्र में मिलता है। बाद में फ्रांसीसी प्रतिकवादियों ने भी काव्य में इस पद्धति का अनुसरण किया। मनोभावों और संवेगों की काव्य में सर्वोत्तम अभिव्यक्ति होती है। इलियट मानते हैं कि कवि मानस गत संवेगों का अथवा कवि के मनोभावों का सहृदय तक सीधा संप्रेषण नहीं हो सकता, इसलिए कवि को अपने संवेगों

से संप्रेषण के लिए वस्तुओं, स्थितियों और घटनाओं का चुनाव करना चाहिए जिससे उनकी वस्तुओं, स्थितियों और घटनाओं के माध्यम से कवि के मनोभाव पाठक तक संप्रेषित हो सके। इस तरह कवि संवेगों तथा मनोभावों के संप्रेषण के लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को प्राप्त करना आवश्यक है। किसी ऐसी ठोस वस्तु, चित्र, व्यक्ति, दान आदि का प्रस्तुतीकरण जो कवि संवेगों को पाठकों तुरंत आहुति कर सके। अतः वही वस्तुनिष्ठ समीकरण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इलियट का वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धांत भाव प्रदर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धांत है जो काव्य को समझने में महत्वपूर्ण व निश्चित भूमिका निभाता है।

११.४ सारांश

टी. एस. इलियट द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत ' परंपरा की परिकल्पना और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत और वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धांत तीनों उन्हें पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण आलोचकों- विचारकों में शामिल करते हैं।

इलियट ने परंपरा को विशेष महत्व दिया और इस बात पर भी बल दिया की परंपरा के भीतर ही कवि की वैयक्तिक प्रज्ञा की सार्थकता मान्य होनी चाहिए।

परंपरा को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि "इसके अंतर्गत उन सभी स्वाभाविक कार्यों, आदतों, रीति- रिवाजों का समावेश होता है जो स्थान विशेष पर रहने वाले लोगों के सह-संबंध का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंपरा के भीतर विशेषत: धार्मिक आचारों से लेकर सांस्कृतिक बोध, ऐतिहासिक बोध का समग्रता से विश्लेषण होता है। इलियट यह मानते हैं कि परंपरा उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं होती वह अर्जित की जाती है। वस्तुतः इलियट के लिए परंपरा एक अविच्छिन्न प्रवाह है जो अतीत के सांस्कृतिक साहित्यिक दायरे उत्तमांश को वर्तमान को समृद्ध करता है। यह अतीत की जीवन शक्ति है जिससे वर्तमान का निर्माण होता है और भविष्य का अंकुर फूटता है। परंपरा के नाम पर अंधविश्वासों और रूढ़ियों का अनुकरण नहीं करना चाहिए।

परंपरा के महत्व के साथ ही इलियट ने काव्य की निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसने आत्मनिष्ठ (Subjective) साहित्य के स्थान पर वस्तुनिष्ठ (Objective) साहित्य को विशेष महत्व दिया। उनके अनुसार " महान रचनाकार निर्वैयक्तिक होता है कविता भाव कि उन्मुक्त अभिव्यक्ति नहीं है, वह भाव से मुक्ति है वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से मुक्ति है किंतु निश्चय ही जिनमें व्यक्तित्व और भाव है, वे ही यह जान सकते हैं कि उनमें मुक्ति की आकांक्षा का अर्थ क्या होता है।

इलियट के इस सिद्धांत को ही निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत कहा जाता है। उन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन रोमांटिक कवियों की व्यक्तिवादीता के विरोध में किया। साथ ही, इस सिद्धांत के प्रतिपादन के माध्यम से उन्होंने काव्य सिद्धांत को वैज्ञानिक बनाने की कोशिश की इलियट ने कवि के मन की तुलना प्लैटिनम के तार से की उन्होंने कहा कि यदि ' ऑक्सीजन' और ' सल्फर डायोक्साइड' के

कक्ष में प्लैटिनम का एक तार डाल दिया जाए तो ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड मिलकर सल्फ्यूरस एसिड बन जाते हैं किंतु इस सल्फ्यूरस एसिड में प्लैटिनम का कोई चिन्ह दिखाई नहीं देता। प्लैटिनम का तार भी पूर्णत: अप्रभावित रहता है। इसी प्रकार कवि के मन के संपर्क में अनेक प्रकार के संवेदन अनुभूतिया और भाव आते है और नए-नए रूप ग्रहण करते रहते हैं किंतु प्रौढ़ कवि का मन अप्रभावित रहता है। वास्तविकता यह है की रचनाकार जितना प्रौढ़ और परिपक्व होगा उसमें भोक्ता और स्रष्टा व्यक्तित्व का अंतर उतना ही स्पष्ट होगा।

इलियट द्वारा प्रतिपादित ' वस्तुनिष्ठ समीकरण' (Objective Correlative) का सिद्धांत भी विशेष महत्व का है। ' वस्तुनिष्ठ समीकरण' से तात्पर्य है 'भावानुकूल आलंबन विधान' । इलियट का मानना है कि प्रत्येक भाव की प्रभावी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि कवि ऐसी वस्तुओं, स्थितियों या घटनाओं का चयन करें जो भाव-विशेष को उदिप्त एवं जागृत करने के लिए उचित आलंबन का काम कर सके। इलियट ने इस ' वस्तुनिष्ठ समीकरण' सिद्धांत की तुलना भारतीय रस सिद्धांत की विभावना -व्यापार से की जा सकती है।

इस प्रकार, अंततः कहा जा सकता है अंग्रेजी के बीसवीं शताब्दी के कवि समीक्षकों में इलियट का स्थान अन्यतम है। उन्होंने अंग्रेजी की व्यवहारिक समीक्षा को न केवल समृद्ध किया, वरन् उसे नई मर्यादा प्रदान की। उन्होंने अभिजातीय संस्कारों को नये संदर्भ मे प्रतिष्ठित किया। सिद्धांत ग्रंथों की रचना न करते हुए भी उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन को ध्यान में रखकर उन्होंने काव्य को नई भूमि पर प्रतिष्ठित किया। एक समीक्षक के रूप में उन्होंने साहित्य की जीवंत परंपरा के संरक्षण पर बल दिया। रुचियों के परिष्कार को आवश्यक माना और साहित्य के बोध और आस्वाद की महत्ता स्पष्ट की। आलोचना की समृद्धि के लिए उन्होंने तुलना और विश्लेषण को अनिवार्य माना। इलियट ने श्रेष्ठ आलोचक के लिए सहायता के साथ ही व्यापक अध्ययन और स्पष्ट विश्लेषण -क्षमता जैसे गुणों को भी आवश्यक माना। सब मिलाकर उन्होंने अंग्रेजी समीक्षा को अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ और विशद बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

munotes.in

११.५ दीर्घोत्तरीय प्रश्न:

1) इलियट की परंपरा की परिकल्पना पर प्रकाश डालिए।

2) इलियट ने जिस परंपरा को स्वीकार किया , उसकी परिकल्पना स्पष्ट कीजिए।

3) इलियट के अनुसार वैयक्तिक प्रज्ञा पर प्रकाश डालिए।

4) टी. एस. इलियट ने वैयक्तिक प्रज्ञा के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनका परिचय दीजिए।

5) सिद्ध कीजिए कि इलियट कविता में वस्तुनिष्ठ समीकरण के पक्षधर थे।

6) "इलियट की निर्वेक्तिकता ही वस्तुनिष्ठ समीकरण है। " इस तथ्य पर अपने विचार लिखिए।

११.६ लघुत्तरीय प्रश्न

प्र.१) टी.एस. इलियट का पूरा नाम क्या था?

उत्तर - थॉमस स्टर्नस् इलियट (Thomas Stearns Eliot)

प्र.२ सन १९४९ में टी. एस .इलियट को साहित्य के लिए किस पुरस्कार से सम्मानित किया गया था?

उत्तर - नोबेल पुरस्कार

प्र.३ टी. एस. इलियट किन विद्वानों से प्रभावित थे?

उत्तर - टी. ई. ह्यूम और एजरा पाउण्ड।

प्र.४) इलियट ने साहित्य लेखन के लिए किसका ज्ञान अनिवार्य माना है?

उत्तर -परंपरा और इतिहास का ज्ञान अनिवार्य माना।

प.५) इलियट किस पत्रिका के संपादक थे?

उत्तर -द क्राइटेरियन(The criterion)

प्र.६) इलियट की आलोचना का मूलाधार निबंन्ध कौन सा है?

उत्तर -ट्रेडीशन एंड दी इंडिविजुअल टैलेंट

प्र.७ परंपरा एवं वैयक्तिक प्रज्ञा किस विचारक का प्रसिद्ध निबंध है?

उत्तर -इलियट

प्र.८ इलियट परंपरा का महत्त्वपूर्ण तत्व किसे मानते थे?

उत्तर -इतिहास बोध

प्र.९) इलियट ने प्रारंम्भ में किसका विरोध किया था?

उत्तर -वैयक्तिक प्रज्ञा

प्र.१०) इलियट ने अनेकता को एकता में बांधने के लिए किसे आवश्यक माना था?

उत्तर -परम्परा

११.७ संदर्भ पुस्तकें

1) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी आलोचना - डॉ. रामचंद तिवारी

2) पाश्चात्य काव्य चिंत्तन – प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय

3) काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन - हरीश प्रकाशन मंदिर

4) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा आलोचना - प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह

5) पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. त्रिलोकी नाथ श्रीवास्तव, डॉ. गंगा सहाय

6) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त - गणपतिचंद गुप्त

7) पाश्चात्य काव्यशास्त्र इतिहास, सिद्धांत और वाद डॉ. भगीरथ मिश्र

8) पाश्चात्य काव्य शास्त्र - देवेन्द्रनाथ शर्मा

******

इकाई : ४

१२

आई. ए. रिचर्ड्स

व्यावहारिक आलोचना, रागात्मक अर्थ, संवेगों का संतुलन, संप्रेषण

इकाई की रूपरेखा :

१२.० इकाई का उद्देश्य
१२.१ प्रस्तावना
१२.२ आई. ए. रिचर्ड्स
    १२.२.१ व्यावहारिक आलोचना
    १२.२.२ रागात्मक अर्थ
    १२.२.३ संवेगों का संतुलन
    १२.२.४ संप्रेषण का सिद्धांत
१२.३ सारांश
१२.४ दीर्घोत्तरीय प्रश्न
१२.५ लघुत्तरीय प्रश्न
१२.६ संदर्भ पुस्तके

१२.० इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को पाश्चात्य विद्वान, विचारक आई. ए. रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित व्यवहारिक आलोचना,रागात्मक अर्थ, संवेगों का संतुलन और संप्रेषण के सिद्धांतों की विस्तृत जानकारी देना है।

१२.१ प्रस्तावना

आई. ए. रिचर्ड्स का पूरा नाम ईवर आर्मस्ट्रोंग रिचर्ड्स (१८९३-१९७९) था। बीसवी सदी के आलोचकों में यश और प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से इनका गौरवपूर्ण स्थान है। इन्होंने केंब्रिज विश्वविद्यालय से आचार-विज्ञान (Moral Science) में स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी। मनोविज्ञान में उनकी गहरी पैठ थी। इसके अतिरिक्त अर्थ, विज्ञान, मानव विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र आदि के भी गहरे मर्मज्ञ थे, जिनका उन्होंने अपने सिद्धांत निरूपण में खुला प्रयोग किया है। आलोचना के क्षेत्र में रिचर्ड्स की दो कृतियाँ -

munotes.in

१. 'द प्रिंसिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म (The principals of Literary Critism)

२. प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म (Practical Critism)

विशेष रूप से चर्चित है। वे मूलतः मनोवैज्ञानिक तथा मूल्य वादी समीक्षक है। अतः उनका साहित्यिक विवेचन मनोविज्ञान के धरातल पर है। इसी दृष्टि से उन्होंने ब्रेडले के 'कला कला के लिए' सिद्धांत का खंडन करते हुए मूल्य सिद्धांत की स्थापना की। रिचर्ड्स का मत है कि आज जब प्राचीन परंपराएँ टूट रही है और मूल्य विघटित हो रहे हैं, तब सभ्य समाज, कला और कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था और संतुलन बनाए रख सकता है। रिचर्ड्स के विचार से साहित्य समीक्षा का सिद्धांत दो स्तंभों पर टिका होना चाहिए एक मूल्य और दूसरा संप्रेषण।

१२.२ आई. ए. रिचर्ड्स

१२.२.१ व्यावहारिक आलोचना:

आई. ए. रिचर्ड्स आधुनिक काव्यशास्त्र की परंपरा के महत्वपूर्ण समीक्षक-आलोचक है। वे वैज्ञानिक थे इसीलिए उन्होंने अपने काव्य सिद्धांत और आलोचना के मानदंड मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक विवेचन आधारित रूप में प्रस्तुत किए थे। उनकी आलोचना के आधार काव्य मूल्य और संप्रेषण के सिद्धांत है।

आई. ए. रिचर्ड्स ने अपनी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को साहित्य समीक्षा या आलोचना में समाहित करके एक नई रोशनी बिखेरी। यह मनोविज्ञान से साहित्य के क्षेत्र में आए हैं। अतः इनकी समीक्षा पद्धति मनोवैज्ञानिक तर्कों पर आश्रित है। वैज्ञानिक उन्नति एवं भौतिक समृद्धि के संदर्भ में कविता का अवमूल्यन ही नहीं हुआ अपितु उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ा आभासित होने लगा। अनेक विद्वत जनों ने कविता के इस अंधकार पूर्ण स्थिति की शंका का निवारण करने का जो प्रयास किया, उनमें आई. ए. रिचर्ड्स का विशेष स्थान है। रिचर्ड्स ने मानव सभ्यता एवं उसके मानसिक संतुलन के लिए कविता की अनिवार्यता घोषित की और यह प्रतिपादित किया कि वर्तमान समय के मूल्य विघटन के युग में कविता ही व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा कर सकती है।

आई. ए. रिचर्ड्स काव्यानुभूति को संसार से अलग ना मानकर उसके अन्योन्याश्रित प्रगाढ़ संबंधों को स्वीकार करते हैं । उन्होंने ब्रैडले के 'कला, कला के लिए' सिद्धांत का कड़ा विरोध किया और 'कला, जीवन के लिए' को अधिक महत्व दिया। उन्होंने नैतिकता को भी मनोवैज्ञानिक मानवतावादी दृष्टि से ही परखा है। उनकी दृष्टि में अच्छा वही है, जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वही है, जो मन में संगती एवं संतुलन स्थापित कर सके। रिचर्ड्स की आलोचनात्मक पद्धति अमेरिका की नव्य आलोचना से बहुत अधिक महिमान्वित हुई है। यद्यपि रिचर्ड्स के मतानुसार साहित्य की समीक्षा का एकमात्र उद्देश्य उसका मूल्यांकन करना है। इस संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "मूल्य और प्रेषणीयता की भित्ति पर ही आलोचना के भवन का निर्माण हो सकता है।" इस प्रकार रिचर्ड्स ने साहित्यिक समीक्षा को

munotes.in

मानवीय मूल्यों की तुला पर रखा है और संपूर्ण पाश्चात्य आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है।

रिचर्ड्स के अनुसार आलोचना साहित्य का मूल्यांकन करती है और साथ ही उसके मूल्यांकन के मानदंडों का भी निर्धारण करती है। उसने आलोचना को एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में स्वीकार किया है। निष्कर्षत: रिचर्ड्स के समीक्षात्मक सिद्धांतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह वैज्ञानिक अन्वेषक था। यदी हम कविता के मूल्य का परीक्षण करना चाहते है तो हमें यह जानना होगा की कविता की रचना करते समय कवि की क्या स्थिती रहती है? तथा कविता की अनुभूती करते समय पाठ की क्या स्थिती रहती है? इसके लिए आवश्यक है कि किसी कलाकृती मे उपयुक्त शब्दावली का सावधानी पूर्वक विश्लेषण करते हुए हम इस बात का पता लगाएँ की अपने पाठकों और आधुनिक समीक्षा को वह कृती किस प्रकार प्रभावित करती है। इस प्रकार अपने समीक्षात्मक सिद्धांतो में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपनाना पाश्चात्त्य समीक्षा शास्त्र को रिचर्ड्स की बडी देन समझी जायेगी। इस आधार पर रिचर्ड्स की आलोचना को व्यवहारिक माना जा सकता है, क्योकी वे 'कला, कला के लिए' सिद्धांत के विरोधी और 'कला, जीवन के लिये' सिद्धांत के समर्थक थे। यह एक व्यवहारी बात है की कविता और कला द्वारा श्रोता और पाठक अथवा दर्शक पर अनुकूल प्रभाव होना चाहिए। कविता पढ़कर यह सुनकर श्रोता और पाठक को तथा कलाकृति देखकर दर्शक को आनंद की अनुभूति होनी चाहिए। यदि कविता से श्रोता या पाठक को तथा कलाकृति से दर्शक को कोई मानसिक लाभ अथवा उसके मन में अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई तो वह कविता और कला व्यर्थ है। इस प्रकार की कविता को कोई क्यों पढ़ेगा या सुनेगा तथा इस प्रकार की कलाकृति को कोई क्यों देखना चाहेगा।

१२.२.२ रागात्मक अर्थ:

आई. ए. रिचर्ड्स, आलोचना के क्षेत्र में मूल्य और संप्रेषण के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने कला और कविता की श्रेष्ठता का आधार संप्रेषण को ही स्वीकार किया है। उन्होंने माना है कि कलाएँ वह माध्यम है जिनके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुंचाने का प्रयास करता है। मनुष्य अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक अवश्य संप्रेषित करता है क्योंकि संप्रेषण लोक व्यवहार का अनिवार्य अंग है। राग-द्वेष, प्रेम, सहानुभूति पारस्परिक संप्रेषण यानी कि अपनी अनुभूतियों के आदान-प्रदान का ही नतीजा है। किंतु संप्रेषण की क्षमता सभी लोगों में एक समान नहीं होती है। कलाकार और जनसाधारण की अनुभूति में तात्विक अंतर नहीं होता। अंतर होता है - अनुभूति की अभिव्यक्ति में। बहुत लोगों की अनुभूति गूंगे का गुड है, गूंगा गुड़ के स्वाद का अनुभव तो करता है, परंतु उसे कह नहीं पाता। जिसे वाणी का वरदान प्राप्त है वह उसे कहता है। इस क्षमता में कवि एक कदम और आगे है। वह केवल कहता ही नहीं, बल्कि इस ढंग से कहता है कि दूसरो को भी वह अनुभूति अपनी जैसी प्रतीत होने लगती है और तब मन में आता है कि ऐसा हमने भी कई बार सोचा था परंतु इस खूबी से नहीं कह पाए।

रिचर्ड्स के अनुसार इस संप्रेषण का सबसे सशक्त माध्यम है - भाषा। भाषा के संबंध में रिचर्ड्स ने पर्याप्त विचार किया है और भाषा के दो भेद बताए हैं:- तथ्यात्मक (referential) और रागात्मक (emotional) । कवि वैज्ञानिक के समान तथ्यों का शोध नहीं करता, अपितु वह तो रागात्मक अवस्थाओं की सर्जना करता है।

भाषा कुछ ऐसे प्रतीकों का समूह है, जो श्रोता और पाठक के मन के अनुरूप मन:स्थिति को उत्पन्न कर दे। रिचर्ड्स के अनुसार शब्द अपने में पूर्ण या स्वतंत्र नहीं होते। नाद, शब्द-पहचान, भाव-विचार-प्रसंग आदि भी इसके साथ जुड़े रहते हैं।

आई. ए. रिचर्ड्स ने भाषा का जो रागात्मक भेद बताया है, वह वास्तव में रागात्मक अर्थ है। तथ्यात्मक भाषा का अर्थ तथ्यों का ज्ञान कराना होता है। कविता की भाषा तथ्यात्मक अनुभूति न कराके रागात्मक अनुभूति कराती है। यही भाषा का रागात्मक अर्थ है। यह राग आत्मकथा कविता की भाषा का ही हो सकता है, क्योंकि कविता मनुष्य के मन में राग अर्थात प्रेम अथवा लावण्या का भाव उत्पन्न करती है। यह कार्य कविता भाषा के रागात्मक अर्थ के द्वारा पूर्ण करने में सफल होती है।

आई. ए. रिचर्ड्स भाषा को ऐसे प्रतीकों का समूह मानते थे जो श्रोता अथवा पाठक के मन में कवि अथवा साहित्यकार के मन के अनुभव के अनुरूप स्थिति उत्पन्न कर दे। इस प्रकार भाषा की प्रतीकात्मकता वक्ता और श्रोता के बीच अखंड मानसिक व्यापार का सूत्रपात करती है।

कविता का संबंध बौद्धिक सत्य से नहीं होता, अपितु रागात्मक क्रिया से होता है। हमारी भावनाओं को जो बात जँचती है, तथा जो बात विरोधी प्रतीत नहीं होती वही काव्य सत्य है।

काव्य के इस रागात्मक सत्य की उत्पत्ति कविता की भाषा प्रस्तुत करती है। भाषा के दो प्रकार के अर्थ होते हैं - एक तथ्यात्मक अर्थ और दूसरा रागात्मक अर्थ।

तथ्यात्मक अर्थ दर्शन, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि का विषय है और रागात्मक अर्थ कविता का विषय है। कवि जब किसी नायिका का या युवती के मुख को चंद्रमा के समान बताता है तो यहाँ तथ्यात्मक अर्थ नहीं होता बल्कि रागात्मक अर्थ होता है क्योंकि किसी भी स्त्री का मुख चंद्रमा के समान प्रकाशित करने वाला नहीं हो सकता है।

रिचर्ड्स, कविता के लिए लय को अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार लय केवल ध्वनियों की व्यवस्था नहीं है, उसमें गंभीर भावनाएँ और शब्दों के अर्थ भी नियोजित रहते हैं। लय की स्थिति केवल ऊपरी धरातल पर ही नहीं रहती, उसका विकास मन और भाषा की गहराई से होता है। भाषा में ऊपरी लय तो भाषा के शब्दों के द्वारा आती है, परंतु आंतरिक लय का कार्य भाषा का रागात्मक अर्थ ही करता है। कविता में बाह्य अथवा ऊपरी लय के लिए भी कोमल ध्वनि या नाद वाले शब्दों की आवश्यकता होती है। कोमल नाद या उच्चारण वाले शब्द निश्चित रूप से रागात्मक अर्थ वाले होंगे। कोमल नाद वाले शब्द, राग अथवा प्रेम के अतिरिक्त कठोर भाव उत्पन्न नहीं कर सकते। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऊपरी और आंतरिक लय की दृष्टि से तथा मन में कोमल भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से भाषा के रागात्मक अर्थ की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कविता का, भाषा के रागात्मक अर्थ से घनिष्ठ संबंध है।

munotes.in

१२.२.३ संवेगों का संतुलन :

आई. ए. रिचर्ड्स ने संवेगों के संतुलन की बात कलाकार और कवि के समर्पण के प्रसंग में कही है। कलाकार और कवि कलाकृति की रचना करते समय तथा कविता का निर्माण करते समय अपने व्यक्तिगत संवेगों में संतुलन स्थापित करता है। एक प्रकार से वह अपनी निजी संवेगों को कलाकृति और रचना के प्रति समर्पण कर देता है।

रिचर्ड्स संवेगों या मनोवेगों के संतुलन के दो रूपों का स्वीकार करते हैं। पहला मनोवेगों के समाहार द्वारा जहां अनेक मनोविज्ञान समाहार या समावेश होता है। दूसरा-मनोवेगो के बहिष्कार द्वारा, जहाँ कुछ सीमित मनोवेगों को स्वीकार किया जाता है तथा अधिकांश मनोवेगों का बहिष्कार किया जाता है। रिचर्ड्स मनोवेगों के संतुलन को एक जटिल प्रक्रिया मानते हुए कहते हैं कि इसकी सूक्ष्म और जटिल क्रिया के सभी पक्षों को पूरी तरह समझ पाना संभव नहीं है। उनके अनुसार इसका कारण यह है कि मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के विकास के बावजूद भी मन की विविध क्रियाओं को वृत्तियों एवं मनोवेगों के उदय, संघर्ष और समन्विति की पूर्ण वैज्ञानिक एवं वस्तु पूरक व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि इसकी सीमा सीमित एवं स्पष्ट है।

रिचर्ड्स की दृष्टि से मन की स्थितियाँ अधिक मूल्यवान होती है, जिनमें मानवीय क्रियाओं की सर्वाधिक और सर्वोत्कृष्ट संगति स्थापित होती है। रिचार्ज के अनुसार काव्य रचना एक माननीय प्रक्रिया है इसलिए जो मूल्य मानव की अन्य क्रियाओं का है. वही काव्य का है। मानव मन के आवेगों या संवेगों के दो रूप स्पष्ट किए गए हैं। पहले रूप का प्रतिनिधित्व, आकांक्षा करती है तो दूसरे रूप का प्रतिनिधित्व वितृष्णा या घृणा करती है. यह दोनों परस्पर विरोधी है। आकांक्षा प्रवृत्ति मुलक है पर घृणा निवृत्ति मुलक है क्योंकि मानव मन इसके द्वारा किसी वस्तु से दूर भागता है. । मनुष्य की आकांक्षा उसके चेतन में उत्पन्न होती है इन आकांक्षाओं की अनेक कोटियाँ है जिन्हें अधिक महत्वपूर्ण या कम महत्वपूर्ण करके आंका जाता है। किसी आकांक्षा विशेष की तृप्ति से जितनी अधिक अन्य आकांक्षाएँ उत्पन्न होगी, वह उतनी ही अधिक महत्वपूर्ण होगी और जिससे जितनी कम आकांक्षाएँ उत्पन्न होगी उसका महत्व उतना ही कम आंका जाएगा। प्रत्येक मनुष्य अपनी ज्यादा से ज्यादा आकांक्षाओं की तृप्ति चाहता है और घृणाओं से दूर भागना चाहता है। काव्य मानव मन की आकांक्षाओं व घृणाओं से संतुलन स्थापित करने का कार्य करता है। जिस काव्य में मानव मन आवेगो को संतुलित करने की जितनी अधिक शक्ति रखता है, वह काव्य उतना ही उच्च कोटि का माना जाता है। काव्य एक ऐसा साधन है जिसके विचारों व भावनाओं के प्रभाव से मानव के आवेगो का अधिकारिक संतुलन या व्यवस्थापन हो सके। काव्य मानव मन में ऐसे भाव को जागृत करता है जिससे उसकी आकांक्षाएँ दबती नहीं वरन उसका संतुलन व समाहार हो जाता है जिससे सुख की अनुभूति होती है। जिस काव्य में आवेग उम्र को संतुलित करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, वह उतना ही श्रेष्ठ व मूल्यवान काव्य होगा।

१२.२.४ संप्रेषण का सिद्धांत :

कलाकार या कवि द्वारा पाठक के मन में स्वानुभूति भाव की दशा उत्पन्न कर देना ही संप्रेषण है। अगर कलाकार किसी भाव की अनुभूति करता है तो आवेष्टन के साथ उसका एक विशिष्ट संबंध बन जाता है। यदि कलाकार अपनी रचना द्वारा वैसे ही आवेष्टन और वैसे ही संबंध की योजना द्वारा वैसे ही भाव की अनुभूति पाठकों को भी करा दे तो वह संप्रेषण सफल माना जाएगा। संप्रेषण के लिए भावनात्मक संबंधों की स्थापना, उचित बिम्बों का प्रयोग एवं उसकी विशिष्ट व्यवस्था योजना और भाषा का विशिष्ट प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है।

आई. ए. रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धांत का महत्वपूर्ण आधार संप्रेषण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने बाल्यकाल से लेकर मृत्यु पर्यंत तक अपने विचारों का आदान प्रदान करता है। राग-द्वेष, प्रेम -सहानुभूति, संबंधों का ताना-बाना पारंपरिक संप्रेषण के ही परिणाम है। परंतु संप्रेषण की क्षमता सब में एक समान नहीं होती है। सामान्य जनमानस और कवि या कलाकार की अनुभूतियों का संप्रेषण कदापि एक समान नहीं हो सकता। उनका यह अंतर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का ही होता है। कवि या कलाकार की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अत्यंत प्रभावी होती है। यह प्रभावी अभिव्यंजना ही संप्रेषण है। संप्रेषण में समर्थ व्यक्ति कवि या कलाकार है। इसके लिए अनुभूति की तीव्रता से अधिक जरूरी है उसका संगठन(रचना या बनावट), और संगठन से भी अधिक जरूरी है अभिव्यंजना के माध्यम का असाधारण प्रयोग-कौशल, जो अनुभूति को स्थापित कर सकें।

रिचर्ड्स के अनुसार "संप्रेषण का अर्थ न तो अनुभूति का यथावत (हूबहू) अंतरण है और न दो व्यक्तियों के बीच अनुभूति का तादात्म्य; बल्कि कुछ अवस्थाओं में विभिन्न मनों की अनुभूतियों की अत्यंत समानता ही संप्रेषण है। संप्रेषण कब होता है, जब वातावरण पर किसी मन की ऐसी क्रिया होती है कि दूसरा मन उससे प्रभावित होता है और दूसरे मन की अनुभूति पहले मन की अनुभूति के समान होती है। साथ ही उस अनुभूति से अंशतः प्रेरित भी। दोनों अनुभूतियाँ थोड़ी या अधिक समान हो सकती है और दूसरी अनुभूति पहली अनुभूति पर आश्रित हो सकती है।"

संप्रेषण की प्रक्रिया के संबंध में रिचर्ड्स के उपयुक्त मंतव्य का स्पष्टीकरण है-

१) संप्रेषण के लिए आवश्यक है कि एक मन की अनुभूति से दूसरा मन प्रभावित हो, अर्थात उसमें भी वैसे ही अनुभूति उत्पन्न होने की भूमिका बन जाए।

२) दोनों अनुभूतियों में समानता हो, अर्थात जिस अनुभूति के प्रभाव स्वरूप दूसरी अनुभूति उत्पन्न हो, वे दोनों समान हो।

३) दूसरी (उत्पाद्य) अनुभूति, पहली (उत्पादक) अनुभूति से प्रेरित हो, अर्थात दूसरी अनुभूति स्वतंत्र रूप से उत्पन्न न होकर पहली अनुभूति से उत्पन्न हो।

४) संप्रेषण के लिए दोनों अनुभूतियों में समानता का होना ही पर्याप्त है। समानता बहुत कम भी हो सकती है और बहुत अधिक भी। समानता जितनी अधिक होगी, संप्रेषण उतना ही सुगम और सफल होगा।

संप्रेषण निम्न गुणों द्वारा प्रभावी होता है:-

१) **व्यापक अनुभव -** कवि या कलाकार की अनुभूति व्यापक, विस्तृत व प्रभावशाली होनी चाहिए।

२) **स्थिति को स्पष्ट बोध -** अनुभूति के क्षणों में आवेदनों का व्यवस्थित ढंग से संतुलन होना चाहिए।

३) **जागरूकता-वस्तु** या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार या कवि जागरूक, निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए।

४) **सामंजस्य -** कलाकार के अनुभवों व समाज के अनुभवों में सामंजस्य होना चाहिए।

५) **कल्पना का प्रयोग-** संप्रेषण के लिए आवश्यक प्रतिक्रियाओं की आवश्यकता होती है।

क) वे एक सी हों

ख) वे विविध हों

ग) उत्तेजनाओं से प्रेरित होने वाली हो।

६) **कला के घटक तत्व**:- समान प्रतिक्रियायें प्रकट करने के लिए उत्तेजना का काम करने वाले कविता के घटक तत्व में लय, छंद और स्वर का समायोजन महत्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने कलाकार के साधारण होने पर विशेष बल दिया है, अन्यथा उसकी महनीय एवं मूल्य वाली वस्तु का संप्रेषित होना कठिन हो जाता है। अवसर या साधारण स्तर से ऊपर या कम होने से पाठक उसे ग्रहण नहीं कर पाएगा। किसी रचना अथवा कवि की परीक्षा करने के लिए समीक्षक को विषय का व्यापक बोध, अनुभव, सजगता होनी चाहिए। वह संप्रेषण की सफलता की परीक्षा तभी कर सकता है, जब वह रचना को ठीक से समझ सके। रिचर्ड्स के अनुसार काव्य की सौंदर्यानुभूति की सफलता संप्रेषण पर ही आश्रित ही है। कलाकार की सफलता की कसौटी भी यही है कि वह जो कहना चाहता है, वह दूसरों तक संप्रेषित हो सकता है या नहीं। संप्रेषणीयता से पृथक रहकर कला का उद्देश्य सार्थक नहीं हो सकता।

रिचर्ड्स के अनुसार संप्रेषण अचेतन प्रक्रिया है। कलाकार या कवि संप्रेषण के प्रति सचेत - सजग नहीं रहता, उसे रहना भी नहीं चाहिए, अन्यथा उसकी कृति निम्न कोटि की हो जाएगी। कलाकार की अनुभूति और कलाकृति में जितना संवाद (मेल) होगा उसी के अनुपात में उसकी संप्रेषण क्षमता भी होगी। पाठकों में ग्राहिका शक्ति का होना भी एक अपेक्षित अंग है।

कविता के संप्रेषण का माध्यम है भाषा ।रिचर्ड्स मैं भाषा के दो भेद बताए हैं - तथ्यात्मक और रागात्मक। कवि वैज्ञानिक के समान तथ्यों का शोध नहीं करता, अपितु वह तो रागात्मक अवस्थाओं की सर्जना करता है। भाषा कुछ ऐसे प्रतीकों का समूह है जो श्रोता और पाठक के मन के अनुरूप मन:स्थिति को उत्पन्न कर दे। रिचर्ड्स के अनुसार शब्द अपने आप में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होते। नाद, शब्द-पहचान, भाव-विचार, प्रसंग आदि भी इनके साथ जुड़े होते हैं।

इस प्रकार, हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि संप्रेषण की प्रक्रिया जटिल होते हुए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि संप्रेषण द्वारा कविता का आनंद पाठक व श्रोता को मिलता है। कवि या कलाकार के विशिष्ट अनुभव संप्रेषण द्वारा समाज को प्राप्त होता हैं जिससे ज्ञान वह संस्कृति का विकास होता है, संकीर्णता वह स्वार्थ दूर हटता है तथा माननीय संवेदनाएँ परिष्कृत होकर व्यापक और उदात्त बनती है। अतः कलायें संप्रेषण का प्रभावशाली माध्यम है।

१२.३ सारांश :-

आई. ए. रिचर्ड्स ने अपनी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को साहित्य समीक्षा अर्थात आलोचना में समाहित करके उसे नया रूप दिया है। वैज्ञानिक उन्नति एवं भौतिक समृद्धि के कारण कविता का अवमूल्यन हुआ है तथा उसका अस्तित्व तक संकट में पड़ गया है। कविता की इस अंधकार पूर्ण स्थिति का निवारण करने का प्रयत्न करने वालों में रिचर्ड्स का स्थान सबसे ऊपर है। इन्होंने मानव सभ्यता और उसके मानसिक संतुलन के लिए कविता को अनिवार्य स्वीकार किया है।

रिचर्ड्स ने अपनी समीक्षा का आधार निम्नलिखित दो तथ्यों को बनाया है-

क) **काव्य का मूल्य:** जिस प्रकार चिकित्सकों का कार्य शरीर को स्वस्थ करना है, उसी प्रकार समीक्षक का कार्य लोगों के मन को स्वस्थ बनाना है। समीक्षक यह तभी तय कर सकता है, जब उसे साहित्यिक मूल्य का ज्ञान हो।

ख) **संप्रेषणीयता:-** इसे अंग्रेजी में कम्युनिकेबिलिटी कहते हैं। कवि का कर्तव्य अपना भाव श्रोता या पाठक तक पहुँचाना ही संप्रेषणीयता है। यही रिचर्ड्स की व्यवहारिक समीक्षा है।

आई. ए. रिचर्ड्स ने कलाकार और कवि दोनों को संप्रेषक माना है। उसके अनुसार किसी भी कलाकार या कवि का संप्रेषण पक्ष उसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। कलाकृति और कविता की प्रतिक्रियाएँ एकरस होनी चाहिए। कवि और कलाकार की कसौटी को रिचर्ड्स ने संप्रेषण की सफलता माना है। रिचर्ड्स ने संप्रेषण का माध्यम भाषा को माना है। रिचर्ड्स ने भाषा के दो भेद तथ्यात्मक और रागात्मक किए हैं। उन्होंने कहा है कि कवि वैज्ञानिक के समान तथ्यों का शोधन करके रागात्मक अवस्थाओं का सृजन करता है। रिचर्ड्स ने भाषा का जो रागात्मक भेद बताया है, वही भाषा का रागात्मक अर्थ है। रागात्मक अर्थ केवल कविता की भाषा का हो सकता है। इसका कारण कविता के द्वारा मनुष्य के मन में राग अर्थात प्रेम या कोमलता का अनुभव कराना होता है। राग की उत्पत्ति कविता भाषा के द्वारा ही करती है। रिचर्ड्स कविता में लय को भी रागात्मकता का कारण मानते हैं।

आई. ए. रिचर्ड्स के अनुसार कवि और कलाकार द्वारा साहित्य सृजन के समय अपने संवेगोंपर संतुलन करना ही संवेगों का संतुलन है। इसको निर्वैयक्तिकता भी कहा जा सकता है। रिचर्ड्स ने संवेगों के संतुलन की बात कलाकार और कवि के समर्पण के प्रसंग में कही है।रिचर्ड्स के अनुसार कविताएँ या कलाएँ मनुष्य की समर्पणात्मक क्रिया का उतकुष्ट रूप है। कलाकार और कवि जिस समय रचना करने

में व्यस्त होते हैं, उस समय वह समर्पण के लिए सजग ना होने के कारण आयासपूर्ण समर्पण नहीं करता, समर्पण उससे अपने आप हो जाता है। हालाँकि रिचर्ड्स के समर्पण वाले प्रसंग पर अनेक विद्वानों ने अपनी आपत्ति जताई है। इसके बावजूद रिचर्ड्स अंग्रेजी शिक्षकों में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

क्रोचे के बाद यूरोपीय समीक्षकों में सर्वाधिक चर्चित नाम आई. ए. रिचर्ड्स ने पहली बार व्यापक और व्यवस्थित ढंग से काव्य - समीक्षा के सभी अंगों पर विचार किया है। उन्होंने आलोचना को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने की कोशिश की है। उन्होंने समीक्षा के दो आधार स्तंभ को स्वीकार किया।

१) काव्य मूल्य

२) अनुभूति का संप्रेषण

यह दोनों ही आधार स्तंभ अत्यंत महत्वपूर्ण है। रिचर्ड्स की मान्यताओं में अंतर्विरोध हो सकते हैं। उनके चिंतन की सीमाएँ भी हो सकती है किंतु उनके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे विचारक को बहुत गहरे प्रभावित किया है और उनकी आलोचना को नया मोड़ देने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

१२.४ दीर्घोत्तरीय प्रश्न

प्र.१) आई. ए. रिचर्ड्स की मान्यता के अनुसार भाषा के रागात्मक अर्थ पर प्रकाश डालिए।

प्र. २) आई. ए. रिचर्ड्स ने भाषा के रागात्मक अर्थ का समर्थन किस परिप्रेक्ष्य में किया है? स्पस्ट कीजिए।

प्र.३) संवेगों के संतुलन के विषय में आई. ए. रिचर्ड्स के विचारों का परिचय दीजिए।

प्र.४) संवेगों का संतुलन क्या है? आई. ए. रिचर्ड्स की मान्यता के अनुसार संवेगों के संतुलन पर प्रकाश डालिए।

प्र.५) आई. ए. रिचर्ड्स की व्यवहारिक आलोचना की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

प्र.६) आई. ए. रिचर्ड्स की व्यवहारिक आलोचना किन मूल्यों पर आधारित है? संक्षेप में परिचय दीजिए।

प्र.७) आई. ए. रिचर्ड्स के संप्रेषण के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

प्र.८) संप्रेषणीयता के सिद्धांत के संबंध में आई. ए. रिचर्ड्स के सिद्धांतों का उल्लेख / विश्लेषण कीजिए।

munotes.in

१२.५ लघुत्तरीय प्रश्न

प्र.१) आई. ए. रिचर्ड्स का पूरा नाम क्या है ?
उत्तर - आइवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स

प्र.२) आई. ए. रिचर्ड्स की प्रसिद्ध पुस्तक का नाम लिखिए।
उत्तर - प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म

प्र.३) आई. ए. रिचर्ड्स के दोनों सिद्धांतों का नाम क्या है?
उत्तर - १) मूल्य का सिद्धांत २) संप्रेषण का सिद्धांत

प्र.४) आई. ए. रिचर्ड्स ने काव्य का संबंध किसके साथ स्वीकार किया?
उत्तर - काव्य का संबंध जीवन मूल्यों के साथ है।

प्र.५) आई. ए. रिचर्ड्स के अनुसार उत्कृष्ट कविता कैसी होती है?
उत्तर - जो कविता श्रोता या पाठक के मन को जितना अधिक प्रभावित कर सकती है, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी।

प्र.६) आई. ए. रिचर्ड्स किस क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र में आए थे?
उत्तर - घ) मनोविज्ञान

प्र.७) आई. ए. रिचर्ड्स ब्रेडले के किस सिद्धांत के विरोधी थे?
उत्तर - कला कला के लिए

प्र.८) आई. ए. रिचर्ड्स ने कला कला के लिए के बजाय किसे महत्वपूर्ण माना?
उत्तर - कला जीवन के लिए

प्र.९) आई. ए. रिचर्ड्स के सिद्धांतों से कौन से भारतीय समीक्षक अधिक प्रभावित हुए?
उत्तर - आचार्य रामचंद्र शुक्ल

प्र.१०) आई. ए. रिचर्ड्स के अनुसार प्रयोग की दृष्टि से भाषा के दो भेद कौन-कौन से हैं ?
उत्तर - तथ्यात्मक और रागात्मक

१२.६ संदर्भ पुस्तके

१) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी आलोचना-डॉ रामचंद्र तिवारी
२) पाश्चात्य काव्यचिंतन - प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय
३) काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन - हरीश प्रकाशन, आगरा
४) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा आलोचना - प्रो. योगेंद्र प्रतापसिंह
५) पाश्चात्य काव्यशास्त्र-डॉ. त्रिलोकी नाथ श्रीवास्तव, डॉ. गंगा सहाय
६) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांत - गणपतिचंद्र गुहा
७) पाश्चात्य काव्यशास्त्र इतिहास, सिद्धांत और वाद - डॉ. भागीरथ मिश्र
८) पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. देवेंद्र नाथ शर्मा

* * * * * *

munotes.in